श्रीहरिकृष्णनिबन्धमणिमालायाः
पञ्चमो (५) मणिः

श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचिता

कारिकावली

न्याय–व्याकरण–साहित्याचार्य–

पण्डितराजश्रीसूर्यनारायणशुक्लरचित-

मयूखोद्भासित 'सिद्धान्तमुक्तावली' सहिता

तत्तनूजेन

वाराणसीस्थ जो० म० गोयनकासंस्कृतमहाविद्यालयप्रधानाचार्येण

न्याय–व्याकरण–साहित्याचार्य–

पण्डितश्रीरामगोविन्दशुक्लेन

स्वप्रणीतेन प्रकाशाख्यहिन्दीव्याख्यानेन, टिप्पणेन भूमिकया च

समलङ्कृत्य सम्पादिता

(प्रत्यक्षखण्डान्ता)

श्रीहरिकृष्णनिबन्धभवनम्, वाराणसी–१

सं० २०३२] मूल्यं ६–०० [ई० १९७५

प्रकाशकः—
श्रीहरिकृष्णनिबन्धभवनम्
वाराणसी

(अष्टमं संस्करणम्)

प्राप्तिस्थानम्
(१) चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
(२) चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी-२२१००१

मुद्रक :—चौखम्बा प्रेस, वाराणसी-२२१००१

श्रीहरिः शरणम् ।

प्रथमसंस्करणस्य भूमिका

विदितचरमिदं समेषां विदुषां यत्संस्कृतसाहित्यपरिशीलिनां शास्त्रतत्त्वालोकाय कीदृशीमावश्यकतामावहति तर्कशास्त्रम् । यतोऽद्यत्वे सर्वाण्यपि दर्शनानि किंवा व्याकरणालङ्कारादिशास्त्राण्यपि नव्यतार्किकरीतिमनुसृत्यैव प्रधानविद्याकेन्द्रेषु काश्यादिषु पाठ्यन्ते । अतः 'समस्तं वाङ्मयं व्याप्तं त्रैलोक्यमिव विष्णुना' इत्यस्योपमेयकोटौ तर्कशास्त्रप्रक्षेपो नातिशयोक्तिमालम्बते ।

अतस्तर्कशास्त्रस्य सर्वोपादेयतामाकलय्य तर्कशास्त्रमधिजिगांसूनां कृते महामहोपाध्यायविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यमहोदयैर्न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीनामा रुचिरो ग्रन्थो निरमीयत ।

अयं च महामहोपाध्यायविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यः रत्नाकरविद्यावाचस्पतेः पौत्रः विद्यानिवासभट्टाचार्यस्य पुत्रः रुद्रन्यायवाचस्पतेः नारायणभट्टाचार्यस्य च भ्राता १५५६ शालिवाहनशके वङ्गदेशे प्रख्याततार्किको बभूव ।

एतस्यैव ज्येष्ठपितृभ्यो वासुदेवसार्वभौम आसीद्यस्य शिष्यास्तत्त्वचिन्तामणिदीधितिकारो रघुनाथतार्किकशिरोमणिः, स्मृतितत्त्वस्य कर्ता महामहोपाध्यायरघुनन्दनभट्टाचार्यः श्रीगौराङ्गमहाप्रभुः, तान्त्रिककृष्णानन्दश्च बभूवुः ।

श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यकृता ग्रन्थास्त्विमे—

१ भाषापरिच्छेदः (कारिकावली)
२ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (भाषापरिच्छेदटीका)
३ मांसतत्त्वविवेकः
४ न्यायसूत्रवृत्तिः (वृन्दावनेऽनेन लिखिता)
५ सर्वार्थतत्त्वालोकः
६ न्यायतन्त्रबोधिनी
७ पिङ्गलप्रकाशश्च

एषु आदिमाश्चत्वारो ग्रन्था मुद्रिता इदानीमुपलभ्यन्ते इति ।

इदं सर्वं वाराणसेयसरस्वतीभवनप्रकाशितमांसतत्त्वविवेकस्य भूमिकायां सुगृहीतनामधेयाः वाराणसेयराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षाः प्राच्यप्रतीच्योभयदर्शननिष्णाताः महामहोपाध्यायकविराजश्रीगोपीनाथमहोदया न्यरूपयन्निति विरम्यते लेखविस्तरादिति ।

सा च न्यायसिद्धान्तमुक्तावली अतिसरलया सरण्या निर्मिता बह्वर्थप्रकाशिकापि अतिसङ्क्षिप्ततया व्याख्यानमपेक्षत एव। यद्यपि दिनकरीनामकं व्याख्यानं बहुत्र मुद्रितं सर्वत्रलब्धप्रचारं समुप ते तथापि तत्प्रौढतार्किकाणामेव मोदावहम्। व्याख्यानान्तरणि चातिसङ्क्षिप्तानीति न छात्राणां तार्किकविषयव्युत्पादकानीति मया मुक्तावलीमयूखनाम्नी टीका निर्माय अस्मत्प्रियमित्राय श्रीमतो बाबूहरिकृष्णदासगुप्ताय प्रादीयत। तेन च स्वधनव्ययेनानीयत प्रकाशं प्रकाशिता च यदि छात्राणां कञ्चिदप्युपकारमादध्यात्तदाऽहमात्मानं कृतकृत्यं मन्वानो भवतामीदृशीमुदारतां शिरसा बिभ्रियाम्।

येभ्यो हिन्दुविश्वविद्यालयसाहित्यशास्त्रप्रधानाध्यापकेभ्यो व्याकरणसाहित्याचार्य—श्रीचन्द्रधरशर्मपाण्डेयेभ्यः, श्रीतर्कवागीशब्रह्मचारिश्रीश्रीदत्तशर्मपाण्डेयेभ्यः, विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायाचार्येभ्यः सर्वतन्त्रापरतन्त्रेभ्यः श्रीमाधवाचार्येभ्यः, पूर्वोत्तरमीमांसाभूषणपण्डितरत्नदेवशिखामणि श्रीरामानुजाचार्यमहोदयेभ्यः, महामहोपाध्यायश्रीवामाचरणभट्टाचार्यमहोदयेभ्यश्च, अधीत्य आत्मानं कृतकृत्यं मन्ये तान् सर्वानपि गुरुवरान् साञ्जलिबन्धं सप्रणिपातं प्रणम्य तेषामुपकारजातं शिरसा बिभर्मि।

यत्रायोध्यास्थराजगोपालपाठशालायामधीत्य व्याकरणादिशास्त्राणि, चतुर्विंशतिवर्षमिते वयसि वर्तमानेन मया प्रधानाध्यापकपदेऽवस्थाय सुचिरमध्यापितानि तदध्यक्षाणां वैष्णवकुलभूषणानां सर्वप्रकारेण मयि वत्सलां दृष्टिमादधतां मदभ्युन्नतिकारणानां श्रीमद्रघुवरदासमहोदयानां चरणकमलयोः सप्रणिपातं प्रणम्य आजन्म तदुपकारजातं स्मरन् केवलं तदीयोऽहमित्युक्त्यैवात्मानं बहु मन्ये।

श्रीमतां वाराणसेय जो० म० गोयनकासंस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षाणां सर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां श्री० पं० चण्डीप्रसादशुक्लमहोदयानां सुतनिर्विशेषं मयि वत्सलां दृष्टिमादधतामुपकारजातं वचसा वक्तुमशक्तः केवलं प्रणामैरेवात्मानं कृतार्थयामि।

एतद्ग्रन्थप्रकाशकं श्रीमन्तं श्रेष्ठिप्रवरं श्रीहरिकृष्णदासगुप्तमहोदयं शुभाशीर्भिर्युञ्जन् श्रीविश्वनाथचरणकमलयोः पुष्परूपेण ग्रन्थमिमं समर्पयामीति।

विदुषामनुचरस्य

सूर्यनारायणशर्मशुक्लस्य

भूमिका

जब स्वर्गमें भगवानने वक्तव्य दिया होगा कि चौदह भुवनोंमें भूलोक एक भुवन है। जहाँ भारतवर्ष नामका एक बहुत ही सुन्दर खण्ड है जिसमें संसारके सब उत्तम पदार्थ मिलते हैं, केवल अमृत नहीं मिलता, इसलिए उस लोकमें जिन्हें वास करना हो वे हमारे समीप प्रार्थना भेजें तब मैं उन्हें भेजनेकी व्यवस्था करूंगा। उस समय मुझे विश्वास होता है कि कुछ विषयसे दूर भागनेवाले आलसियों को छोड़कर कोई भी चल-चित्तवृत्तिवाला ऐसा नहीं रहा होगा जो भारतवर्ष देखने और अपनी निवासभूमि बनानेके लिए उत्कण्ठित न हुआ हो। इस उत्कण्ठाका हेतु जब विचारने बैठें तो यह मानना पड़ेगा कि विषयभोगसे तृप्त न होना ही है। जो मनुष्यके रूपमें हमें उस परमात्मासे इतनी दूर ले आया।

यहाँ आकर आनन्द तो बड़ा मिला, किन्तु आनन्द दुःखसे मिश्रित था। इसलिए कुछ दिनके बाद 'टका सेर भाजा और टका सेर खाजा' खाते खाते जब फाँसीकी स्थिति उत्पन्न हो गई तब गुरुजी स्मरणमें आये। उनसे यह पूछना पड़ा कि 'महाराज! अब हमें वह मार्ग बताइये जिस पर चलकर हम पुनः वहीं पहुँचे जहाँसे आये हैं।' गुरुओंने हमारी बुद्धिका विकास देखकर उसके अनुसार मार्ग बता दिया। यही कारण है कि एक ही स्थान पर जानेके लिए भिन्न भिन्न मार्ग बताये गए हैं। वे मार्ग ६ प्रकारके हैं। उन्हें ही दर्शन कहते हैं। यों तो पुराण आदि सुहृत्सम्मित वाक्योंके द्वारा भी मार्ग बताया गया है। किन्तु प्रमाणोंके द्वारा ही आत्मा और अनात्माका ज्ञान करानेवाला दर्शनशास्त्र है। भारतवासी वस्तुतत्त्वज्ञानके लिये दर्शनका विशेष आदर करते हैं।

मध्यकालीन भारत में कुछ इस प्रकारके भी लोग उत्पन्न हो गए जो लोगोंको ठीक मार्गसे अनुचित मार्गपर ले चलकर अपना स्वार्थ साधनेकी ताकमें लगे और उसीके फलस्वरूप चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि दर्शन बने जिन्होंने लोगोंको असमंजस में डाल दिया।

ऐसे ही लोगोंको ठीक मार्ग पर लानेके लिये और बड़ी-बड़ी सभाओंमें अपने पक्षको रखने वालोंको ठीक युक्तियोंके ही द्वारा पराजित करनेके लिए न्याय और वैशेषिक शास्त्रका विस्तार हुआ। इस शास्त्रने जो नियम तथा विचार करनेका मार्ग बनाया वह सबको मानना पड़ा। आस्तिक दर्शनोंमें भी इन दर्शनोंके विरुद्ध क्यों न कहा गया हो किन्तु यह तो मानना ही पड़ता है कि 'काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्' अर्थात् जैसे व्याकरण शास्त्र बिना पढ़े शुद्ध बोलना कठिन है वैसे बिना काणाद (वैशेषिक) शास्त्र पढ़े विचार करना भी असम्भव है। अतः शृङ्खलाबद्ध विचार करनेकी परम्पराका

जन्म देनेके कारण यह शास्त्र सर्वोपकारक माना गया। फिर व्याख्यानबाजियां बन्द हुई, शास्त्रार्थके झोंकेमें पड़कर भौतिक-वादियोंने अपना हठ छोड़ दिया, भौतिक-वादके दर्शन समाप्त-प्राय हो गए और उन्हें भी यह स्वीकार करना पड़ा कि:—

सेयमान्वीक्षिकी विद्या प्रमाणादिप्रकाशिका। प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता॥ इति।

धीरे धीरे यह दर्शन शास्त्र बहुत ही विशाल और दुरूह हो गया। अतः न्यायवैशेषिक शास्त्र जानने की इच्छा रखनेवालोंके लिए (न्याय और वैशेषिक नामके भिन्न भिन्न दो दर्शनोंके विषय समान हैं इसलिए) श्रीविश्वनाथ पञ्चाननभट्टाचार्यने कारिकावली और उसकी व्याख्या न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीका निर्माण किया।

आपने नैयायिकोंके सोलह पदार्थोंको (न्यायसूत्र अ० १ आ० १ सू० ९) 'अस्त्य-न्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्' इस वात्स्यायन भाष्यके आधारपर वैशेषिकों और नैयायिकोंका सिद्धान्त एक प्रकार होनेसे इस ग्रन्थका निर्माण किया है। प्रमेय आदि सोलह पदार्थ सातमें कैसे अन्तर्भूत हो गए यह तो तर्कसंग्रहकी दीपिका टीकामें ही देख लेना चाहिए। किन्तु वे सात पदार्थ कौन हैं? हम यहाँ उन्हें बताते हैं—यद्यपि अभावको वैशेषिक पदार्थ मानते हैं यह कहीं स्पष्ट लिखा नहीं है, तथापि 'कारणाभावात् कार्याभावः' (अ० १ आ० २ सू० १) सूत्रके द्वारा यह पता चलता है कि अभाव पदार्थ वैशेषिक मानते हैं। इस प्रकार नैयायिक और वैशेषिकोंके मतसे सात पदार्थ हैं, जैसे:—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव

द्रव्य—गुण और कर्मके आश्रयको द्रव्य कहते हैं। यह द्रव्यकी परिभाषा है। द्रव्य भी नव प्रकारके होते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।

पृथ्वी—जिसमें गन्धकी प्रतीति हो उसे पृथ्वी कहते हैं। इस प्रकार गन्धरूपी गुण और क्रियाका आश्रय पृथ्वीरूप द्रव्य है। पृथ्वीमें रूप अनेक होते हैं किन्तु अनित्य। पाकके वश अनेक रूप उत्पन्न होते हैं। पाकके बारेमें न्याय और वैशेषिकोंमें मतभेद है। न्यायशास्त्रमें घटमें ही पाक होता है अतः ये पिठरपाकवादी कहे जाते हैं, किन्तु वैशेषिक परमाणुमें पाक मानते हैं अतः वे पीलुपाकवादी कहे जाते हैं (विशेष विवरण टीकामें है)। इन दोनोंके मतसे मनुष्य आदिके देह पार्थिव हैं, जलीय नहीं। क्योंकि पसीना सूख जाने पर भी 'यह वही देह है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान होता है। इस पर कुछ आधुनिकोंका कहना है कि—'यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि भ्रमसे भी प्रत्यभिज्ञा होती है।' इस पर इनसे पूछना चाहिए कि क्या भ्रमात्मक प्रत्यक्ष नहीं होता, क्या भ्रमात्मक अनुमान नहीं होता? यदि होता है तो क्या प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण नहीं माने जाते। यदि माने जाते हैं तो भ्रमरूपमें या प्रमारूपमें। यदि अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित

प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण है तो वैसी प्रत्यभिज्ञाके द्वारा वस्तुका ज्ञान क्यों नहीं हो सकता ? आगे उनका कहना है—कि 'तन्तु आदि शरीरमें निमित्तकारण नहीं।' क्योंकि बाह्यकारण ही निमित्तकारण है। जैसे घड़ेका दण्ड और कुम्भकार आदि। निमित्तकारणसे वस्तुका स्वरूप नहीं बनता। किन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि क्या पिता-माता पुत्रके समवायिकारण हैं ? या इन निमित्तकारणोंसे पुत्ररूपी वस्तुका स्वरूप नहीं बना है, मिट्टी भी तो घटमें निमित्त-कारण ही है। इसीलिए तो समवायिकारण और असमवायिकारणसे भिन्नकारणको ही निमित्तकारण माना गया है। जल वैसा है।

जल—शीतस्पर्शरूपी गुण और क्रियाका आश्रय जलरूप द्रव्य है। इसमें शुक्ल वर्ण, मधुर रस, स्नेह और स्वाभाविक द्रवत्व रहता है। वैज्ञानिक—लोग जलको तत्त्व नहीं मानते। वे हाइड्रोजन और आक्सीजन नामके दो पदार्थोंसे जलकी उत्पत्ति मानते हैं। इन्हीं बातोंको ध्यानमें रखकर कुछ लोगोंने न्यायके इस सिद्धान्तको अवैज्ञानिक कहा है। तथा विज्ञानके अनुसार जलमें कोई रूप और रस नहीं रहनेकी बात भी कहा है। किन्तु यह प्रत्यक्षविरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक है। जलका ही क्या समस्तभूतों का भी अलगतत्त्व न होना वेदान्तका सिद्धान्त ही है। फिर तो वेदके आधार पर यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि जल या हाइड्रोजन और आक्सीजनका जन्म तेजसे हुआ है। फिर तो दोनों गैस भी तत्त्व नहीं हो सकेंगे। आगे वैज्ञानिकोंका कहना है कि 'जल नीरूप होता है' इस पर मुझे पूछना है कि चाक्षुषप्रत्यक्षके प्रति रूप कारण मानते हो या नहीं। यदि मानते हो तो जलका चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है या नहीं। यदि नहीं प्रत्यक्ष होता तो जल पीनेकी प्रवृत्ति मृगमरीचिकामें होती है। यदि चाक्षुषप्रत्यक्षमें रूपको कारण नहीं मानते तो क्या आकाश, काल की तरह जलको भी कोई तत्त्व मानते हो। यदि हाँ, तो इतना समझना चाहिए कि हम उस नीरूप को जल नहीं मानते। (जलके रसका प्रत्यक्ष करनेका प्रकार मूलमें ही लिखा है)।

इसी तरह वैज्ञानिक जलका शीतस्पर्श भी नहीं मानता। उसका मत है कि 'यदि किसी वस्तुका तापमान हमारे शरीरके तापमानसे न्यून है तो हमें शीतल प्रतीत होता है। यदि हमारे शरीरसे उसका तापमान अधिक है तो हमें उष्ण प्रतीत होता है' इस पर हम इतना ही जानना चाहते हैं कि ताप तेजका धर्म है या जलका ! गरमाये हुए जलमें और कूओंके जलमें भेद क्या है ? यही न कि उसमें ताप अधिक है। किन्तु गरम जलसे भी स्नान कर हवा लगने पर शीतलताका जो अनुभाव होता है वह किस तापमानका उदाहरण है। इससे यह मानना पड़ता है कि जल स्वयं शीत है। तापसे उसकी भिन्न भिन्न प्रतीति होती है। सूर्यसे तप्त देह पर जब जल पड़ता है तब कम शीत प्रतीत होता है किन्तु जब सूर्यके ताप हमको या जलको नहीं स्पर्श करते हैं तब हम शीतस्पर्शका अनुभव रते

है। जलीय शरीर वरुण लोकमें रहता है यह लोक-कल्पना करके समाधान करना तर्कके प्रतिकूल कहने वाले लोग यह क्यों नहीं विचारते कि पानीमें हमारा दम घुटता है और मछलीका पानीके बाहर दम घुटता है इसमें क्या भेद है? क्या मछली आदि जलजन्तुओंके देह जलीय नहीं हो सकती। फिर वरुणलोक समुद्रको माननेमें क्या हानि है!

तेज—तेजका उष्णस्पर्श भास्वर शुक्लरूप नैमित्तिक द्रवत्व है। कुछ लोगोंका कहना है कि 'वैज्ञानिकोंने यह सिद्ध कर दिया है कि 'सूर्यमें इतनी प्रचण्ड गरमी है कि कोई जीवधारी शरीर रह ही नहीं सकता।' अतः सूर्यलोकमें तैजस शरीर रहना सम्भव नहीं' किन्तु बड़ा आश्चर्य होता है कि तेजका बना हुआ शरीर तेजसे कैसे जल जायगा। अतः समझका अन्तर ही मानना पड़ता है।

वायु—अपाकज और अनुष्णाशीतस्पर्श तिर्यक् गतिवाला वायु होता है। स्पर्श गुण और क्रिया का आश्रय होनेके कारण द्रव्य है।

आकाश—शब्दरूपी विशेषगुणका आश्रय आकाश है।

काल—जगत किसी कालमें उत्पन्न होता है अतः काल जगतका जनक है।

दिक्—जिससे दूर और निकटकी व्यवस्था हो वह दिशा है।

आत्मा—ज्ञानका अधिकरण और क्रियाका आश्रय आत्मा है। ईश्वरको आत्मा मानने और न माननेमें कुछ विवाद है। वैशेषिक तो ईश्वरका कहीं नाम ही नहीं लेता, किन्तु नैयायिकने 'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्' (अ० ४। आ० १। सूत्र १९) इस सूत्रमें ईश्वरका नाम लिया है। वैशेषिकदर्शनके भाष्यकारने ईश्वरकी चर्चा की है। अतः दोनोंके मतमें ईश्वर सिद्ध हो जाते हैं। ईश्वरमें आत्मत्व है या नहीं, इस झगड़ेमें यही मूल है कि कदाचित दोनों दर्शनोंमें कुछ भेद हो। किन्तु वैशेषिकने ईश्वरका खण्डन भी नहीं किया। अतः 'अप्रतिषिद्धं ह्यनुमतं भवति' सिद्धान्तके आधार पर भाष्यकारने ईश्वरपरक व्याख्या भी कर दी। वस्तुतः प्रतीत ऐसा होता है कि सांख्य-योग, वैशेषिक-न्याय, मीमांसा-वेदान्त इन ६ दर्शनोंमें एक अनीश्वरवादी और दूसरा ईश्वरवादी है। अनीश्वरवादी कहने का यह अर्थ नहीं कि वे ईश्वरको मानते ही नहीं हैं। किन्तु ईश्वरको बिना माने ही उनके दर्शनकी व्यवस्था बैठ जाती है। यही स्थिति वैशेषिकोंकी भी है। किन्तु भाष्यके आधार पर दोनों ईश्वरवादी हैं। अतः आत्मत्व जाति ईश्वरमें है या नहीं इस पर सन्देह भी उठाया गया। जो लोग कहते हैं कि 'इन दोनों दर्शनोंमें ईश्वरका कोई महत्त्व नहीं था बादमें महत्त्व समझाने पर बढ़ाया गया' यह सर्वथा निराधार है।

मन—सुख, दुःख आदिके ग्रहणका साधन मन है।

गुण—चौबीस हैं जो मूल ग्रन्थमें लिखे हैं।

कर्म—पाँच हैं। उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन।

सामान्य दो प्रकारका है। सामान्य जातिको कहते हैं। जहां जाति नहीं रहती वहां उपाधि मानी जाती है। जैसे पाचकत्व आदि।

विशेष नित्य द्रव्यमें रहनेवाला एक पदार्थ है। जिसे एक परमाणुसे दूसरे परमाणुमें भेद साधनेके लिए मानना पड़ता है। समवाय एक प्रकारका सम्बन्ध है। जिसे वेदान्ती लोग नहीं मानते। वे तादात्म्य मानते हैं किन्तु तादात्म्य और समवायमें भेद है।

अभाव—चार प्रकार का होता है। संक्षेपमें पदार्थ-निरूपण समाप्त।

साधर्म्य—साधर्म्य उसे कहते हैं जो पदार्थोंमें समान रूपसे रहे। जैसे ज्ञेयस्वरूप धर्म सातों पदार्थोंमें है। अतः ज्ञेयत्व साधर्म्य हुआ। समवायको छोड़कर शेष भाव पदार्थोंमें समवायित्व साधर्म्य हैं अर्थात् सब समवायसम्बन्धसे कहीं न कहीं रहते हैं। सातों पदार्थोंमें द्रव्य, गुण और कर्ममें सत्तावत्त्व साधर्म्य हैं अर्थात् इनमें सत्ता रहती है। द्रव्यको छोड़कर गुणसे लेकर अभाव तक पदार्थोंमें गुण और क्रिया नहीं रहती इसलिये निर्गुणत्व निष्क्रियत्व साधर्म्य है। इसी प्रकार सामान्य, विशेष, समवाय और अभावमें जाति भी नहीं रहती। अतः सामान्यहीनत्व साधर्म्य है। अणुपरिमाणवाले (अर्थात् पृथ्वी आदिके परमाणुके परिमाण और मनके परिमाण को छोड़कर) सबमें कारणत्व रूपी साधर्म्य है।

कारण—तीन प्रकारके होते हैं, समवायिकारण; असमवायिकारण और निमित्तकारण। जो अन्यथासिद्ध न हो और कार्य उत्पन्न होनेके पूर्व नियतरूपसे रहता हो उसे कारण कहते हैं। अन्यथासिद्धि भी पाँच प्रकारकी होती है। जिसमें पाँचवीं अन्यथासिद्धि मान लेनेसे भी निर्वाह हो सकता है। शेष चार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। (इन विषयोंको मूलसे ही देख लेना चाहिए।)

अन्त्यावयवी—किसे कहते हैं। इसपर कुछ लोग भ्रान्त हैं। उनका कहना है कि 'अन्त्यावयवी किसी द्रव्यको कैसे माना जाय। दो या अधिक द्रव्योंके मिलनेसे अगला द्रव्य नहीं बनेगा, क्या प्रमाण' इसपर उनका उदाहरण है कि 'घटनौका' अनेक घटोंका समूह नहीं है। यदि समूह मान लें तो पट भी तन्तुसमूह हो जायगा। अतः 'घटनौका' को नया द्रव्य मानना चाहिए। यदि नया द्रव्य मानते हैं तो घट अन्त्यावयवी नहीं सिद्ध होता' इसपर केवल इतना कहना है कि क्या 'घटनौका' कोई नया द्रव्य है। यदि है, तो अनेक घटोंसे बनी या एक घटसे बनी भी। यदि अनेक घटोंसे बनी ही नौका घटनौका है तो एक घटकी नौका क्यों नहीं ? क्योंकि नदी पार करनेकी शक्ति दोनोंमें है। यदि दोनों नौका हैं तो एक घटकी बनी नौकावाले घटमें जैसे अन्त्यावयवित्व है वैसे अनेक घटघटित नौकाके घटमें अन्त्यावयवित्व क्यों नहीं ? पट और तन्तुमें यह बात नहीं है एक तन्तु देह ढकनेमें असमर्थ है किन्तु एक घट नदी पार कर सकता है। अतः घटनौका बनने पर भी

यह कोई नया द्रव्य नहीं है। किन्तु जैसे पटमण्डप, पट हैं, आवरक है, किन्तु नया द्रव्य नहीं है वैसे घटनौका नया द्रव्य नहीं है। यदि नया द्रव्य हो भी तो घटनौका या पटमण्डप केवल घटों या पटोंसे नहीं बनता। उसमें रस्सी, बांध आदि अन्य भी सहायक है। अतः केवल कपालसे बना घट अन्त्यावयवी है।

आत्मामें—बुद्धि गुण रहता है। बुद्धि दो प्रकारकी होती है एक अनुभव दूसरी स्मृति। अनुभव चार प्रकारका है प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द। इनके कारण भी चार हैं प्रत्यक्ष, अनुमान; उपमान और शब्द।

प्रत्यक्ष—घ्राणज, चाक्षुष, त्वाच, श्रावण, रासन और मानसके भेदसे ६ प्रकारका है। घ्राणसे गन्ध और गन्धत्वका, रसनासे रस और रसत्वका, श्रवणसे शब्द और शब्दत्वका। चक्षुसे उद्भूतरूप, उद्भूत रूपवाले द्रव्य, पृथक्त्व, संख्या, संयोग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, परिमाण योग्य द्रव्यकी क्रिया, जाति और समवाय ये सब गृहीत होते हैं। त्वचासे उद्भूत स्पर्शवाला द्रव्य और रूपको छोड़कर जिन्हें हम नेत्रसे देख सकते हैं सबका प्रत्यक्ष होता है। मनसे त्वक्‌का संयोग ज्ञानमात्रके प्रति कारण हैं। निर्विकल्पक ज्ञान अतीन्द्रिय है। ६ इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होनेमें महत्त्व कारण है और इन्द्रिय करण हैं।

लौकिक सन्निकर्ष—विषय और इन्द्रियसे सम्बन्धको सन्निकर्ष कहते हैं। वह ६ प्रकारका है। जो मूलमें ही स्पष्ट है।

अलौकिक सन्निकर्ष—तीन प्रकारका होता है। सामान्यलक्षणा, ज्ञानलक्षणा और योगज।

सामान्यलक्षणा—अनुमानके प्रति व्याप्तिज्ञान कारण है। 'जहाँ जहाँ धूम' वहाँ-वहाँ अग्निसाहचर्य नियमको व्याप्ति कहते हैं। इस प्रकार यदि 'साधन धूम' और 'साध्य अग्निके' साथ व्याप्यव्यापकभाव गृहीत हो जायगा कि 'वह्निव्याप्यो धूमः' तब 'व्याप्यसत्ता व्यापकसत्ताका नियामक है' इस सिद्धान्तके अनुसार 'पर्वतो वह्निमान्', यह अनुमिति हो सकेगी। किन्तु एक दो स्थानोंपर साहचर्य देखनेसे किसीकी व्याप्ति नहीं गृहीत होती। बिना सब धूम और अग्नि देखे व्याप्तिग्रह होना कठिन है। अतः धूमत्वेन सकल धूम और अग्नित्वेन सकल अग्निकी उपस्थितिके लिए सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष सहायक होता है और तब व्याप्ति ज्ञान बनता हैं। सकल धूमका लौकिक प्रत्यक्ष न होते हुए भी इस अलौकिक सन्निकर्षसे प्रत्यक्ष होता है। अतः इसे अलौकिक सन्निकर्ष कहते हैं।

ज्ञानलक्षणा—जैसे सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिसे अनदेखे भी धूमके बारेमें हम प्रत्यक्ष मानते हैं, वैसे 'सुरभि चन्दनम्' इस ज्ञानमें सौरभका भान ज्ञानलक्षणा सन्निकर्षसे मानना पड़ता है। जब किसी वस्तुका सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है। कि 'यह घट है' अथवा 'यह यज्ञदत्त है' तो इसके साथ कुछ स्मरणात्मक ज्ञान भी होता है। जैसे 'यह वही घट है जो पहिले देखा था।' अथवा यह वही यज्ञदत्त हैं जिसे पहिले देखा था' इस स्मरणात्मक

ज्ञानको प्रत्यक्षात्मक न माना जाय तो न्यायवैशेषिकका आधारभूत 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' सिद्धान्त ही निराधार हो जायगा और प्रत्यभिज्ञा भी नहीं बन सकेगी। इसलिए इस स्मरणात्मकज्ञानको भी प्रत्यक्षात्मक बनानेके लिए ज्ञानलक्षणा माननी पड़ती है। जैसे जब हम नेत्रसे चन्दनको देखते हैं। तब हमें यह सुगन्धित है' यह भी प्रत्यक्ष होता है। यहाँ 'सुगन्धित होनेका' ज्ञान स्मरणात्मक नहीं किन्तु प्रत्यक्षात्मक माना जाता है। किन्तु चक्षु इन्द्रियका सुगन्धके साथ संयोग न होनेसे प्रत्यक्ष नहीं बन सकता। अतः ज्ञानलक्षणा नामका सन्निकर्ष माना गया।

यद्यपि यहाँ सुगन्धत्वरूपसे सकल सुगन्धका ज्ञान सामान्यलक्षणासे हो सकता है तथापि सुगन्धत्व ज्ञान हो जानेपर ही तो सामान्यलक्षणाका अवसर होगा। अतः सुगन्धत्व ज्ञानके लिए ज्ञानलक्षणा मानना चाहिए।

योगज युक्त और युञ्जानके भेदसे योगज सन्निकर्ष दो प्रकारका होता है।

यद्यपि प्रत्यक्षके सम्बन्धमें तो केवल अन्तमें थोड़ा सा लिखा गया है शेष तो मुक्तावलीका पूरा विषय संक्षेपमें इसी भागमें प्रतिपादित है। अतएव बड़े बड़े विद्वानोंने इस भागको अधिक उपकारक समझकर व्याकरण की उत्तर मध्यमा परीक्षामें अनिवार्य रूपसे रक्खा है। तथापि ग्रन्थको चार भागोंमें बाँटकर आदि, अन्त, उपक्रम और उपसंहार के रूपमें मानना चाहिए।

इस संस्करणकी विशेषता

इस भाग पर हमारे पूज्य पिताजीने मयूख नामकी परीक्षोपयोगिनी संस्कृत टीका लिखी है। जिसके प्रायः चार संस्करण छप चुके हैं। फिर भी इस बार छात्रों के हितार्थ मैंने हिन्दी व्याख्या भी कर दी है। जहाँ तक बन पड़ा है हमने भाषा सरल और सुबोध ही बनानेका प्रयत्न किया है। इस प्रकार इस संस्करणके साथ सम्पूर्ण कारिकावली भी प्रकाशित हो रही है।

यों तो यह विषय दर्शनका है। श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयीजीके शब्दोंमें कि 'दर्शनका विषय हिन्दीमें लिखनेपर भी समझनेके लिए शीर्षासन करना पड़ता है।' यह तो यहाँ भी आवश्यक है।

हमने इसकी हिन्दी व्याख्या कर दी इसका यह अर्थ नहीं कि यह उपन्यास बन गई। किन्तु मुझे विश्वास है कि जो लोग गुरुओंसे पढ़कर विचारने लगेंगे उन्हें इस हिन्दी टीकासे अवश्य सहायता मिलेगी।

इस अवसर पर हम संन्यासी संस्कृत कालेजके मन्त्री स्वामी श्री धर्मानन्दजी महाराज को कभी नहीं भूल सकते जिन्होंने अपने विद्यालयमें नया स्थान बनाकर हमें नियुक्त किया और हमारे काशी रहनेमें सहायक बनें।

साथ ही हम आदरणीय पण्डित श्री रामचन्द्रझाजीको हृदयसे धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने यह कार्य बड़ी शीघ्रतामें सम्पन्न किया और सम्पादनमें सहायता प्रदान की। अन्तमें हम श्री भगवान् विश्वनाथजीके चरणोंमें नमस्कार करते हुए यह प्रार्थना करते हैं कि 'यह ग्रन्थ छात्रोंका अधिक उपकारक सिद्ध हो।'

शु. भाद्र सु. ६ }
२०१२ विक्रम }

रामगोविन्द शुक्ल

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

कारिकावली

'मयूख' 'प्रकाश' संस्कृत हिन्दीव्याख्योपेता



नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ॥ १ ॥

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

चूडामणीकृतविधुर्वलयीकृतवासुकिः ।

माहेश्वरं धनुरुदस्य विकृष्य दूरं सञ्चूर्णयन् प्रमुदितो मुनिनाऽभिदृष्टः ।
शालीनया जनककन्यकया स तिर्यग्दृष्ट्या विलोकितवपू रघुनायकोऽव्यात् ॥
श्रीविश्वनाथ ! विषमं चरितं त्वदीयं दृष्ट्वा परां न घृणया इति शङ्कितोऽस्मि ।
इत्थं निशम्य वचनं गिरिशो भवान्या अङ्गीभवन्प्रमुदितो भवतान्मुदे नः ॥
श्रीदत्तवामाचरणन्यायाचार्यपदाम्बुजम् । नत्वा मयूखं तनुते सूर्यनारायणः सुधीः ॥

चूडामणीकृतेति । न चूडामणिरचूडामणिः, अचूडामणिश्चूडामणिः, सम्पद्यमानस्तथा कृत इति चूडामणीकृतो विधुर्येन स चूडामणीकृतविधुः, अवलयो वलयः सम्पद्यमानस्तथा कृत इति वलयीकृतो वासुकिर्येन स वलयीकृतवासुकिः, लीलया

नीलसरोरुह श्याम, तरुण अरुण वारिज नयन ।
करहु सो मम उर धाम, सदा क्षीरसागरशयन ॥

(१) नवीन मेघकी कान्तिके सदृश कान्तिवाले, अथवा नवीन मेघके समान प्रिय लगनेवाले, गोपोंकी स्त्रियोंके वस्त्र चुरानेवाले अथवा गो (इन्द्रियों) के पालनमें लगे रहनेवाले गोपों (जीवों) की वधूटी (अविद्या = अज्ञान) रूपी वस्त्रको चुरानेवाले और जो संसाररूपी वृक्षके बीज (निमित्त कारण) हैं उन श्रीकृष्णचन्द्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥

जो अपनी ही इच्छाओंसे ताण्डवनृत्य करनेमें निपुण हैं और जिन्होंने चन्द्रमाको

---

(१) क्रियाके साथ अन्वित होकर शान्त आकांक्षावाले विशेष्यवाचक पदका, विशेषणान्तरसे अन्वय करनेका प्रयत्न समाप्तपुनरात्तत्व नामका काव्य दोष है । यह मूल मुक्तावली

भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः ॥ १ ॥

ताण्डवं लीलाताण्डवं तत्र पण्डितः लीलाताण्डवपण्डितः, भवति जगदस्मादिति भवः शङ्करो भव्याय कल्याणाय भवत्वित्यर्थः।

ननु क्रियाऽन्वयेन शान्ताकाङ्क्षस्य विशेष्यवाचकपदस्य विशेषणान्तरेणान्वयार्थं पुनरनुसन्धानं समाप्तपुनरात्तत्वं नाम काव्यदोषः। यथा—

नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः।
पतन्ति शशिनः पादा भासयन्तः क्षमातलम् ॥

इत्यत्र पतनक्रियाऽन्वयेन शान्ताकाङ्क्षस्य पादा इत्यस्य भासयन्त इति पदप्रतिपाद्यविशेषणेनान्वयार्थं पुनः कीदृशाः पादा इत्यनुसन्धानेन समाप्तपुनरात्तत्वं दोषस्तथा प्रकृतेऽपि भवो भव्याय भवत्वित्यन्वयेन शान्ताकाङ्क्षस्य भवपदस्य लीलाताण्डवपण्डित इति पदप्रतिपाद्यविशेषणेनान्वयार्थं पुनः कीदृशो भव,इत्यनुसन्धानेन समाप्तपुनरात्तत्वं स्यादिति चेत्? न, विशेषणत्वं हि विद्यमानत्वे सतीतरव्यावर्त्तकत्वम्। तच्च प्रकृते भवस्यैव, तस्यैवेतरव्यावर्तकत्वेन विवक्षणादिति लीलाताण्डवपण्डित इत्यस्य विशेष्यतास्वीकारेण समाप्तपुनरात्तत्वाभावात्।

नन्वेवं सति नीलोत्पलमित्यत्रोत्पलस्यापीतरव्यावर्तकत्वेन विवक्षायां विशेषणतया 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इति समाससञ्ज्ञाविधायकशास्त्रघटकप्रथमान्तपदबोध्यतया 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इत्युपसर्जनसञ्ज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति पूर्वनिपाते उत्पलनीलमित्यपि स्यादतः 'जातितद्भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकानां शब्दानां मध्ये जातिप्रवृत्तिनिमित्तकमेव विशेष्यवाचकम्' इति स्वीकर्त्तव्यम्। अत एव 'कडाराः कर्मधारये' इति सूत्रं चरितार्थम्। अन्यथा विशेष्यविशेषणभावस्य विवक्षाऽधीनतया जैमिनेर्विशेषणत्वेन विवक्षायां जैमिनिकडार इति, कडारस्य विशेषणत्वेन विवक्षायां कडारजैमिनिरिति रूपद्वयसिद्धौ तद् व्यर्थं स्यात्। 'विशेष्यविशेषणभावे कामचारः' इति प्रवादस्तु खञ्जकुब्जः कुब्जखञ्जः इत्यादावेव। अत्र हि कस्यापि जातिप्रवृत्तिनिमित्तकत्वाभावेन नोक्तनियमप्रवृत्तिरिति तत्त्वम्। एवञ्च प्रकृते भवशब्दस्य भवत्वजातिप्रवृत्तिनिमित्तकतया विशेष्यवाचकत्वमेव लीला-

---

अपने मस्तकमें चूडामणिकी तरह पहन लिया है तथा वासुकि नागको कङ्कण बना लिया है वे भगवान शङ्कर आप लोगोंका कल्याण करें ॥ १ ॥

और हिन्दीके मंगलाचरणोंमें समान रूपसे है अतः यह मंगलाचरण ही दुष्ट है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि आकांक्षा दो प्रकारकी होती है। एक उत्थिता दूसरी उत्थाप्या। उक्त दोष उत्थाप्याकांक्षा स्थलमें होता है उत्थिता स्थलमें नहीं। इन काव्योंमें आकांक्षा उत्थिता है। अतः दोष नहीं है।

निजनिर्मितकारिकावलीमतिसङ्क्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः ।
विशदीकरवाणि कौतुकान्नु राजीवदयावशंवदः ॥ २ ॥
सद्द्रव्या गुणगुम्फिता सुकृतिनां सत्कर्मणां ज्ञापिका

ताण्डवपण्डित इत्यस्य पाण्डित्य (बुद्धि) रूपगुणप्रवृत्तिनिमित्तकतया विशेषण-वाचकत्वमेवेति समाप्तपुनरात्तत्वं दुष्परिहरम्—

न चैकव्यक्तिवृत्तितया भवत्वं न जातिरिति वाच्यम्, कल्पभेदेन शिवशरीरस्य भिन्नतया भवत्वस्य जातित्वे बाधकाभावात् ।

न च भवत्यस्माज्जगदिति व्युत्पत्त्या भवशब्दस्य क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तकत्वेन जातिप्रवृत्तिनिमित्तकत्वाभाव इति वाच्यम्, रूढेर्योगाद् बलीयस्त्वेन भवशब्दस्य जातिप्रवृत्तिनिमित्तकत्वौचित्यादिति चेद् ?

अत्रोच्यते—आकाङ्क्षा द्विविधा—उत्थिताकाङ्क्षा उत्थाप्याकाङ्क्षा च । तत्रान्त्यायां समाप्तपुनरात्तत्वं दोषो नाद्यायां, तत्राकाङ्क्षाया उत्थिततया विशेषणवाचकपदस्य क्रियाऽन्वयेन शान्ताकाङ्क्षत्वाभावात्समाप्तपुनरात्तत्वाप्रसक्तेः । प्रकृते हि किमर्थं वि-धोश्चूडामणीकरणं किमर्थं वासुकेर्वलयीकरणमिति प्रयोजनाकाङ्क्षाया उत्थिततया तन्निवृत्तये लीलाताण्डवपण्डित इत्यस्योपादानेन समाप्तपुनरात्तत्वाभावात् ।

समाप्तपुनरात्तत्वपरिष्कारस्तु—वाक्यविशिष्टत्वं समाप्तपुरात्तत्वम् । वैशिष्ट्यं च स्वतादात्म्य-स्वविशिष्टविशेषणवाचकपदघटितत्वोभयसम्बन्धेन । अत्र वैशिष्ट्यं स्व-घटकविशेष्यवाचकपदावधिकपूर्वत्वाभाववत्त्व-स्वघटकपदजनिताकाङ्क्षाशामकार्थाबो-धकत्वोभयसम्बन्धेन, समन्वयः स्वयमूहनीय इत्यलम् ॥ १ ॥

निजेति—अतिसंक्षिप्ताश्च ताश्चिरन्तनानामुक्तयस्ताभिः कौतुकाद्विशदीकरवाणीति कथनेन प्रकृतग्रन्थनिर्माणे स्वस्य प्रयासाभावः सूचितः ।

राजीवदयावशंवद इति । राजीवे तन्नामके शिष्ये दया तया वशं वदतीति राजीव-दयावशंवदः, अथवा राजीवस्य राजीवलोचनस्य भगवतो दया तया वशं वदतीति राजीवदयावशंवदः, 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वाच्य' इति वचनेन लोच-नशब्दस्य लोप इति बोध्यम् ॥ २ ॥

सद्द्रव्येति । द्रव्यैः सहिता सद्द्रव्या द्रव्यसाध्या बहुमूल्येति यावद्, गुणेन सूत्रेण गुम्फिता गुणगुम्फिता सुकृतिनां सत्कर्मणां भगवद्भजनादीनां ज्ञापिका बोधिका

मैं राजीव नामके अपने प्रिय शिष्य अथवा राजीवलोचन (भगवान) की दयाके वश होकर प्राचीन आचार्योंकी अतिसंक्षिप्त व्याख्यासे अपनी रची हुई कारिकावलीको कुतूहलमें पड़कर विशद कर रहा हूँ ॥ २ ॥

जो द्रव्यसे प्राप्य है, सूतसे गूँथी गई है, सत्कर्मको बतानेवाली है, सामान्य धर्म

सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिताभावप्रकर्षोज्ज्वला ।
विष्णोर्वक्षसि विश्वनाथकृतिना सिद्धान्तमुक्तावली
विन्यस्ता मनसो मुदं वितनुतां सद्युक्तिरेषा चिरम् ॥ ३ ॥

सामान्यं च विशेषश्च सामान्यविशेषौ सन्तौ च तौ सामान्यविशेषौ सत्सामान्यविशेषौ ताभ्यां नित्यं मिलिता सम्बद्धेति सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिता समीचीनसामान्यधर्मेण मुक्तावलीत्वेन समीचीनविशेषधर्मेण महत्त्वनिर्मलत्वादिना च सम्बद्धेति यावत्, तार्किकैस्तमसस्तेजोऽभावरूपत्वाङ्गीकारात् अभाव इत्यस्य तेजोऽभाव इत्यर्थः। तमसीति यावत्, अन्धकारे सति प्रकर्षेणोज्ज्वला इत्यभावप्रकर्षोज्ज्वला सती समीचीना युक्तिर्योजना मुक्तानां सन्निवेशो यस्यां सा सद्युक्तिः एषा सिद्धान्ता इव मुक्ताः सिद्धान्तमुक्तास्तासामवली सिद्धान्तमुक्तावली विश्वनाथकृतिना विष्णोर्वक्षसि विन्यस्ता सती चिरं मनसो मुदं वितनुताम् इति मुक्तावलीपक्षे समासादिः।

ग्रन्थपक्षे तु द्रव्यैः प्रतिपादकत्वसम्बन्धेन सहितेति सद्रव्या गुणैर्गुणनिरूपणैर्गुम्फिता सन्ति च तानि कर्माणि सत्कर्माण्युत्क्षेपणादीनि तेषां ज्ञापिका न तु भ्रमणादीनां ज्ञापिकेति भावः, सत्वं चात्रान्यत्रानन्तर्भावरूपम्, सामान्यं च विशेषश्च नित्यमिलितं (समवायः) च सामान्यविशेषनित्यमिलितानि सन्ति विद्यमानानि प्रतिपादकत्वसम्बन्धेन सामान्यविशेषनित्यमिलितानि यस्यां सा सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिता अभावस्य प्रकर्षस्तेनोज्ज्वला अभावप्रकर्षोज्ज्वला प्रभाकरखण्डिताभावपदार्थस्थापनेन प्रख्यातमाहात्म्येति यावत्, सत्यः समीचीना युक्तयो यस्यां सा सद्युक्तिः एषा सिद्धान्ता मुक्ता इवेति सिद्धान्तमुक्ता 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति समासः। तासामवली सिद्धान्तमुक्तावली विश्वनाथकृतिना विष्णोर्वक्षसि विन्यस्ता सती सुकृतिनां चिरं मनसो मुदं वितनुताम् इत्यर्थः।

नन्वेकशब्दप्रतिपाद्यत्वमपि साधारणो धर्म इत्यालङ्कारिकैरभ्युपेयत इति प्रकृते

और विशेष धर्म (निर्मलता आदि) से नित्य मिली हुई है, अभाव (तेजोऽभाव अन्धकार) में प्रकृष्ट प्रकाश करती है और बड़े ढंगसे बनाई गई सिद्धान्त (पकी हुई) मोतियोंकी यह माला कुशल विद्वान् विश्वनाथके हाथोंसे (भगवान) विष्णुके वक्षस्थलपर विराजकर बहुत काल तक सत्कर्म करनेवालोंके मनको मुदित करती रहे। तथा जो द्रव्यसे युक्त, गुणोंसे गुँथी, पंच सत् कर्मोंकी बोधिका है जिसमें सामान्य (जाति), विशेष और नित्य मिलित (समवाय) भी गिने गए हैं और (सबसे बढ़कर) अभाव पदार्थ भी मान लिया गया है। अच्छी युक्तियोंसे भरीपुरी सिद्धान्तरूपी मोतियोंकी मालारूपी यह पुस्तक विश्वनाथके द्वारा भगवान विष्णुके हृदयमें विराजकर विद्वानोंके मनमें चिरकाल तक आनन्द देती रहे ॥ ३ ॥

विघ्नविघाताय कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति—

सद्वृत्येत्यादिना साधारणधर्मस्य प्रयोगसत्त्वादुपमितमित्यादिना समासो वक्तुं युक्तोऽपि नु सिद्धान्ता एव मुक्ता इत्येवेति रूपकमेव नोपमेति चेद् ? न, सद्वृत्यत्व-स्य सिद्धान्तमुक्तावलीवृत्तित्वेऽपि सिद्धान्तवृत्तित्वस्य मुक्तावृत्तित्वस्य चाभावेन सिद्धान्तमुक्तयोः साधारणधर्मस्य प्रकृतेऽप्रयोगाद् उपमितमिति समासे बाधका-भावात् ।

ननु प्रकरणेन ग्रन्थपरत्व एतत्तात्पर्यनिर्णयात् तात्पर्यज्ञानस्य च शाब्दबोधे हेतु-त्वात् सकृदुच्चरितन्यायाच्च कथमर्थान्तरस्य प्रतीतिरिति चेद् ?

उच्यते—शक्त्याऽर्थान्तरबोधनासम्भवेऽपि व्यञ्जनयाऽर्थान्तरबोधसम्भव इति । तच्च प्रकृतेऽनुपपद्यमानं ग्रन्थमुक्तावल्योरुपमानोपमेयभावे पर्यवस्यति । तेन चोप-माऽलङ्कारो व्यङ्ग्य इति ।

न च तार्किकैर्व्यञ्जनाया अनङ्गीकारात्कथमेतदिति वाच्यम् । व्यक्तिविवेककृता व्यञ्जनाया अनुमानेऽन्तर्भावस्य प्रतिपादितत्वादनुमानस्य च तार्किकैरङ्गीकारेण क्षतिविरहादित्यलं पल्लवितेन ॥ १ ॥

विघ्नविघातायेति । विशिष्टो घातो विघातः । वैशिष्ट्यं चोत्पत्तिमत्त्वमेवात्र बोध्यम् । तथा च विघात इत्यस्योत्पत्तिमदभाव इत्यर्थः ।

ननु घातपदमेवोत्पत्तिविशिष्टाभावरूपध्वंसबोधकम् इत्युत्पत्तिमदर्थकस्य विपद-स्य नैष्फल्यमिति चेद् ? न, सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैरितिमहाकविकालिदासीयपद्ये 'कीचका वेणवस्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इति कोशबलेन मारुतपूर्णरन्ध्रत्वविशिष्टवेणुवाचककीचकपदेन मारुतपूर्णरन्ध्ररूपार्थस्य लाभेन मारुतपूर्णरन्ध्रैरित्यस्य वैयर्थ्यंभिया 'विशिष्टवाचकानां पदानां सति पृथग्विशेषणवाचकपदसमवधाने विशे-ष्यमात्रपरत्वम्' इत्यवश्यमभ्युपेयम् । ततश्च कीचकपदस्य वेणुमात्रपरतया मारुत-पूर्णरन्ध्रैरित्यस्य न वैयर्थ्यम् । एवं प्रकृते घातपदस्याभावमात्रपरत्वाङ्गीकारेणोत्प-

---

समस्त शुभ कार्योंके प्रारम्भमें भगवानका स्मरण मार्गमें आनेवाली बाधाओंपर विजय प्राप्त करनेकी शक्ति प्रदान करता है, इसलिए ग्रन्थारम्भ जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यके प्रारम्भमें भी उसकी निर्विघ्न परिसमाप्तिकी भावनासे भगवानके स्मरणरूप मङ्गलाचरणकी परिपाटी सदाचार-प्राप्त रही है । अतः श्रीविश्वनाथपञ्चानन भट्टाचार्यजीने कारिकावली तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्ति और इस मार्गमें बाधा डालनेवाले विघ्नोंपर विजय पानेके लिए आशीर्वाद, नमस्क्रिया तथा वस्तुनिर्देशरूप त्रिविध मङ्गलप्रकारोंमेंसे मूलमें नमस्कारात्मक तथा टीकामें आशीर्वादात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण करते हुए शिष्योंको शिक्षा देनेके हेतु ग्रन्थके आरम्भमें मङ्गलश्लोक लिखते हैं—'नूतनेति' (व्याख्या पृ० १ पर देखें)

नूतनेत्यादि। ननु मङ्गलं न विघ्नध्वंसं प्रति न वा समाप्तिं प्रति कारणं विनाऽपि मङ्गलं नास्तिकादीनां ग्रन्थे निर्विघ्नपरिसमाप्तिदर्शनादिति चेद् ?

त्तिमदर्थक विपदस्य न वैयर्थ्यमित्यदोषाद् उपसर्गाणां द्योतकत्वस्यैव नैयायिकाभिमततया शङ्काया एवाभावाच्च।

नूतनेत्यादीति। नूतनो यो जलधरो मेघो नूतनजलधरः, नूतनजलधरस्य रुचिरिव रुचिर्यस्य स नूतनजलधररुचिस्तस्मै, यथा मेघो वृष्ट्या जनतां मोदयति तथा कृष्णोऽपि भक्तमनोरथपूर्त्या भक्तान् मोदयतीत्यभिप्रायः। गोपानां वधूटयस्तासां दुकूलानि तेषां चौरस्तस्मै, गा इन्द्रियाणि पान्तीति गोपा जीवास्तेषां वध्वोऽविद्यास्ता एव दुकूलानि स्वरूपाच्छादकत्वात् तेषां चौरस्तस्मा इति वा, कृष्णो यथा गोपीदुकूलचौर्यं कृतवान् तथा मदीयाज्ञानचौर्यमपि करोत्वित्यभिप्रायः। संसार एव महीरुहो वृक्षस्तस्य बीजाय यः संसारस्यैवोत्पादकस्तस्य मदीयमनोरथसम्पादने कियानायास इत्यभिप्रायः। दुःखं कृषतीति कृष्णस्तस्मै दुःखापहर्त्रे नम इति। अत्र 'उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मत' इति लक्षणलक्षितः परिकरालङ्कारो बोध्यः। अत्रापि समाप्तपुनरात्तत्वशङ्कासमाधाने पूर्ववद्बोध्ये इति।

ननु मङ्गलं निष्फलं फलविशेषशून्यत्वाज्जलताडनवदित्यनुमानेन मङ्गलस्य निष्फलत्वात्तदाचरणमयुक्तम् ?

न च—फलविशेषशून्यत्वादित्यस्य यत्किञ्चित्फलविशेषशून्यत्वादित्यर्थो यावत्फलविशेषशून्यत्वादित्यर्थो वा ? नाद्यः, पुत्रेष्टियागादावपि यत्किञ्चित्स्वर्गादिरूपफलविशेषशून्यत्वसत्त्वेन निष्फलत्वरूपसाध्यस्य च तत्रासत्त्वेन साध्याभाववद्वृत्तितया हेतोर्व्यभिचारित्वापत्तेः। न द्वितीयः, प्राचीनतार्किकैः समाप्तिफलकत्वस्य नव्यतार्किकैर्विघ्नध्वंसफलकत्वस्य च मङ्गले स्वीकारेण यावत्फलविशेषशून्यत्वरूपहेतोः पक्षे मङ्गलेऽसत्त्वेन पक्षताऽवच्छेदकावच्छेदेन हेतोरसिद्धिः स्वरूपासिद्धिरिति लक्षणलक्षितस्वरूपासिद्धत्वापत्तेरिति मङ्गले उक्तहेतुना निष्फलत्वानुमानासम्भव—इति वाच्यम् व्यतिरेकव्यभिचारज्ञानस्य कारणताग्रहविरोधितया नास्तिकादीनां ग्रन्थे मङ्गलरूप-

---

(१) ग्रन्थकारने 'विघ्ननाशके लिए मङ्गलाचरण करना चाहिए' यह कहा है किन्तु वास्तवमें विचारनेसे तो मङ्गल न विघ्नध्वंस के प्रति और न समाप्तिके प्रति ही कारण है क्योंकि जिन नास्तिकोंने मङ्गलाचरण नहीं किए हैं उनके भी ग्रन्थोंकी समाप्ति निर्विघ्नतापूर्वक हो गई है। अतः 'मंगलं निष्फलं यावत्फलविशेषशून्यत्वात्, जलताड-

---

(१) विघात पदका विशिष्ट घात अर्थ है। यद्यपि 'घात' शब्दका उत्पत्तिमदभाव अर्थ है। 'वि' शब्द निरर्थककी तरह प्रतीत हो रहा है तथापि 'विशिष्टवाचक पदोंका

कारणाभावेऽपि समाप्तिरूपस्य विघ्नध्वंसरूपस्य वा फलस्य दर्शनेन कारणाभावे कार्योत्पादरूपव्यतिरेकव्यभिचारसद्भावेन समाप्तेर्विघ्नध्वंसस्य वा मङ्गलफलत्वानुपपत्त्या फलान्तरस्य तार्किकैरप्यनङ्गीकृततया यावत्फलविशेषशून्यत्वरूपहेतोः स्वरूपासिद्धत्वाभावेन मङ्गले निष्फलत्वसिद्धेरिति चेद् ? न, मङ्गलं सफलं विषयत्वात् कृष्यादिवदध्ययनवद्वेत्यनुमानेन मङ्गले सफलत्वसिद्धया तदाचरणस्यावश्यकत्वात्।

न च विषयत्वरूपहेतोः केवलान्वयितया ज्ञानविषयसुखेऽपि सत्वेन तस्य च फलरूपतया सफलत्वाभावेन व्यभिचारित्वमिति वाच्यम्; विषयत्वादित्यत्राचारविषयत्वादिति कथनेनाचारविषयत्वस्य सुखेऽसत्वेन व्यभिचारित्वाभावात्। आचारश्चात्र कृतिः, विषयत्वश्रुतेः। ज्ञानेच्छाद्वेषकृतय एव सविषयकाः। तत्र व्यापारसामान्यार्थकस्याङ्पूर्वकचरतेर्व्यापारविशेषकृतिपरत्वमेवोचितं न तु व्यापारभिन्नज्ञानादिपरत्वम् इति बोध्यम्।

न च कृतिविषयत्वस्य हेतुत्वविवक्षणेऽपि सुखोद्देशेन धर्मं करोतीतिप्रतीत्योद्देश्यतया कृतिविषयत्वस्य सुखेऽपि सत्वेन व्यभिचारित्वतादवस्थ्यं हेतोरिति वाच्यम् विधेयतया कृतिविषयत्वस्य हेतुत्वेनादोषात्।

न चैवमपि फलत्वरूपसाध्याभाववति चैत्यवन्दने नास्तिककृतिविषयत्वस्य सत्वेन व्यभिचारतादवस्थ्यमिति वाच्यम्। शिष्टकृतिविषयत्वस्य हेतुत्वविवक्षणेनादोषात्। शिष्टत्वं च वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वम्। तथा नास्तिके नास्तीति तदीयकृतिविषयत्वस्य चैत्यवन्दने सत्वेऽपि शिष्टकृतिविषयत्वस्याभावेन व्यभिचाराभावात्।

न च व्युत्क्रमेण कृते यागे सफलत्वस्याभावात् शिष्टकृतिविषयत्वस्य च सत्वाद् व्यभिचारतादवस्थ्यमिति वाच्यम्। फलसाधनतांशे भ्रमरहितत्वरूपशिष्टत्वस्य हेतुकुक्षौ प्रवेशेन व्यभिचाराभावात्।

(१) न च सफलत्वं प्रवृत्त्युपयुक्तबलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वम्।

नादिवत्' इस अनुमानसे मङ्गलका करना निष्फल सिद्ध होता है। यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि—

'मङ्गलं सफलं अविगीतशिष्टाचारविषयत्वात्' अर्थात् मङ्गल करने का फल होता है क्योंकि शास्त्रमें मङ्गलाचरण करनेकी निन्दा नहीं की गई है तथा किसी भी कर्मको करके

अलग विशेषणवाचक पदके सान्निध्यमें विशेष्यमात्र अर्थ हो जाता है।' अतः वि शब्द निरर्थक नहीं है किन्तु घात पदका अर्थ अभाव और वि-पदका अर्थ उत्पत्तिमत्त्व है। इस प्रकार विघात पदका उत्पत्तिमदभाव अर्थ है।

---

(१) प्रवृत्तिं प्रति कृतिसाध्यत्वप्रकारकं ज्ञानम् इष्टसाधनत्वप्रकारकं ज्ञानं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वप्रकारक ज्ञानं च कारणम्। तेन सुमेरुश्रृङ्गाहरणे जलताडने मधुविषसम्पृक्तान्नभोजने च न प्रवृत्तिरिति बोध्यम्।

न, अविगीतशिष्टाचारविषयत्वेन मङ्गलस्य सफलत्वे सिद्धे तत्र च फलजिज्ञासायां सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वाद् उपस्थितत्वाच्च समाप्तिरेव फलं कल्प्यते।

तच्च श्येनयागे नास्ति तस्य बलवदनिष्टनरकसाधनत्वात् शिष्टकृतिविषयत्वं चास्तीति पुनरपि व्यभिचार इति वाच्यम्। अविगीतशिष्टाचारविषयत्वस्य हेतुत्वविवक्षणेनादोषात्। अविगीतत्वं च बलवदनिष्टाननुबन्धित्वम्। तच्च श्येनयागीयकृतौ नास्तीत्याशयात् (१)। एवञ्च मङ्गलं सफलम् अविगीतशिष्टाचारविषयत्वादित्यनुमानेन मङ्गले सफलत्वसिद्धिः।

ततश्च फलविशेषजिज्ञासायां दृष्टफलकत्वसम्भवेऽदृष्टफलकल्पनाया अनौचित्येन मङ्गलं समाप्तिफलकं समाप्त्यन्याफलकत्वे सति सफलत्वादित्यनुमानेन समाप्तिफलकत्वसिद्धिः।

न च विश्वजिता यजेतेत्यत्र फलविशेषस्याश्रवणेन किमस्य यागस्य फलम् इति जिज्ञासायां सर्वाभिलाषास्पदत्वाद् स्वर्ग एव विश्वजिद्यागफलमित्यर्थकेन 'स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' इति सूत्रेण स्वर्ग एव फलमिति मीमांसायां सिद्धान्तितं तद्वदिहापि स्वर्ग एव फलमस्तु ततश्च ग्रन्थनिर्माणवेलायां मङ्गलाचरणमयुक्तमेवेति वाच्यम्। विश्वजिता यजेतेत्यत्र कस्यापि फलस्योपस्थितेरभावेन तत्र स्वर्गफलकत्वाङ्गीकारेऽपि प्रकृते हे ईश्वर! अयं ग्रन्थः समाप्यतामिति ग्रन्थकर्तुः प्रार्थनयोपस्थितसमाप्तिफलकत्वत्यागे बीजाभावात्।

ननु नास्तिकग्रन्थे मङ्गलाभावेऽपि समाप्तेर्दर्शनेन व्यतिरेकव्यभिचारग्रहेण कार

फल साधनेमें जिन्हें भ्रम नहीं है उन शिष्टोंने मङ्गलाचरण किए हैं। इस प्रकारके अनुमानसे मङ्गल करना सफल माना गया है। मङ्गल करनेके फल क्या हैं इस जिज्ञासाका उत्तर दो ढंगसे हो सकता है। एक तो अदृष्ट (स्वर्ग) और दूसरा (दृष्ट) ग्रन्थसमाप्ति। किन्तु 'जब तक किसी कर्मका फल दृष्ट हो सकता हो तब तक अदृष्टफल नहीं मानना चाहिए' इस नियमके आधारपर 'मङ्गलं समाप्तिफलकं समाप्त्यन्याफलकत्वे सति सफलत्वात्' इस अनुमानसे मङ्गल करनेका फल समाप्ति ही मानना चाहिए।

---

(१) जलताडनेऽतिव्याप्तिवारणायालौकिकेत्यपि हेतुदले निवेश्यमेव। अत एव बहुषु पुस्तकेषु अलौकिकाविगीतेत्यादिस्तत्पदघटितः पाठो दृश्यते। वस्तुतस्तु जलताडनं 'न कुर्यान्निष्फलं कर्मे'ति वचनान्निषिद्धमिति अविगीतशिष्टाचारविषय इति अलौकिकेति निवेशस्य नोपयोगः।

इत्थं च यत्र मङ्गलं न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीयं तत्कल्प्यते। यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्नप्राचुर्यं वा बोध्यम्। प्रचुरस्यास्यैव बलवत्तरविघ्ननिराकरणकारणत्वम्। विघ्नध्वंसस्तु मङ्गलस्य द्वारमित्याहुः प्राञ्चः।

णताग्रहप्रतिबन्धेन समाप्तेर्न फलत्वमिति चेद् ? न, नास्तिको जन्मान्तरीयमङ्गलवान् ग्रन्थसमाप्तेरित्यनुमानेन तत्रापि मङ्गलसत्त्वे समाप्तेर्दर्शनेन व्यतिरेकव्यभिचाराभावात्।

ननु किरणावल्यादौ मङ्गलसत्त्वेऽपि समाप्तिरूपकार्यादर्शनेन कारणसत्त्वे कार्यानुत्पादरूपान्वयव्यभिचारेण मङ्गले समाप्तिकारणत्वसंशयोऽन्वयव्यभिचारज्ञानस्य कारणतासंशयिकत्वादिति चेद् ? न, प्रचुरविघ्ननाशं प्रति प्रचुरमङ्गलस्य कारणतया तत्र प्रचुरमङ्गलरूपकारणाभावेनान्वयव्यभिचाराभावात्।

ननु मङ्गले प्राचुर्यं विघ्नसमसंख्याकत्वरूपं विघ्नाधिकसंख्याकत्वरूपं वा ? नाद्यः, विघ्नाधिकसंख्याकमङ्गलस्थले समाप्त्यभावप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, विघ्नसमसंख्याकमङ्गलस्थले समाप्त्यभावप्रसङ्गादिति चेद् ? अत्रोच्यते-बलवत्तरविघ्ननाशं प्रति बलवत्तरमङ्गलस्य कारणतेत्येवं कार्यकारणभावस्वीकारेणादोषात्। मङ्गले बलवत्तरत्वं धर्मविशेषः समाप्त्यनन्तरसंवेद्यः।

ननु पूर्वं समाप्तेर्मङ्गलफलत्वमित्युक्तं तथा च विघ्नध्वंसो भवतु मा वा, परन्तु समाप्तिः किं न स्यादिति चेद् ? न, विघ्नध्वंसद्वारैव मङ्गले समाप्तिजननस्वीकार

इस प्रकार जहाँ मङ्गलके बिना भी ग्रन्थ समाप्त हो गया है वहाँ 'नास्तिकः जन्मान्तरीयमङ्गलवान् ग्रन्थसमाप्तेः' इस प्रकारके अनुमान द्वारा जन्मान्तरमें किए हुए शुभ कर्मोंका अनुमान कर लिया जायगा और जहाँ मङ्गल करने पर भी समाप्ति नहीं हुई है, वहाँ विघ्नकी प्रबलता या विघ्नोंकी अधिकता ही मानी जायगी। क्योंकि—

'प्रचुरं मङ्गलं बलवत्तरविघ्नध्वंसं प्रति कारणम्' इति प्रकारका कार्यकारणभाव माना जायगा। यहाँ पर 'प्रचुर' शब्दका अर्थ बलवत्तर ही करना पड़ेगा। क्योंकि यदि 'प्रचुर' शब्दका अर्थ 'विघ्नके बराबर संख्यावाला' या 'विघ्नसे अधिक संख्यावाला' किया जाय तब ठीक नहीं पड़ता। पहला अर्थ माननेपर जहाँ विघ्नसे अधिक मङ्गल हो जायगा वहाँ समाप्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि समान विघ्नको समान मङ्गल ध्वंस करेगा। यदि दूसरा अर्थ माना जाय तब जहाँ बराबर विघ्न और मङ्गल है वहाँ समाप्ति नहीं हो सकेगी। अतः बलवत्तरविघ्ननाशं प्रति बलवत्तरमङ्गलस्य कारणता' यही कार्यकारणभाव माना जायगा। बलवत्तर एक प्रकारका धर्म है जो समाप्तिके बाद समझा जा सकता है। इस प्रकार मङ्गलरूपी कारणके बिना भी समाप्ति और मङ्गलरूपी कारणके रहने पर भी समाप्ति न होना यह अन्वय और व्यतिरेकव्यभिचार भी नहीं लगेगा।

नव्यास्तु मङ्गलस्य विघ्नध्वंस एव फलं समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभादिकारणकलापात्।

न च स्वतःसिद्धविघ्नविरहवता कृतस्य मङ्गलस्य निष्फलत्वापत्तिरिति वाच्यम्,

---

रेणादोषात्। द्वारत्वं च तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्। विघ्नध्वंसो हि मङ्गलजन्यः मङ्गलजन्यसमाप्तिजनकश्चेति भवति समन्वयः। इति प्राचीनमतम्।

ननु यत्र भोगादिना विघ्नध्वंसस्तत्रापि समाप्तिः, यत्र च मंङ्गलेन विघ्नध्वंसस्तत्रापि समाप्तिरिति; अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्त्तिना विघ्नध्वंसेनैव मङ्गलस्थलीयसमाप्त्युपपत्तेः 'नियतावश्यकपूर्वभाविव्यतिरिक्तमन्यथासिद्धम्'इति लक्षणलक्षितान्यथासिद्धित्वेन मङ्गलस्य समाप्तिं प्रति न कारणता।

न च व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिः। अत एव सोमेन यजेतेत्यादौ चिरविनष्टस्य यागस्य स्वर्गसाधनत्वोपपत्त्यर्थं कल्पितेनापूर्वेण स्वर्गं प्रति यागस्यान्यथासिद्धत्वाभावात् सोमेनेति करणतृतीयासिद्धिरिति वाच्यम्। यत्र व्यापारिणः प्रमाणबोधितकारणतानिर्वाहाय व्यापारस्य कारणत्वं कल्प्यते तत्रैव व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धत्वम्। अत एव काशीमरणस्य तत्त्वज्ञानेन मुक्तावन्यथासिद्धत्वात् काशीमरणान्मुक्तिरित्यत्र हेतुपञ्चम्यनुपपत्त्या प्रयोजकत्वपरा पञ्चमीति समर्थितम्। तथा च प्रकृते मङ्गलस्य समाप्तिकरणत्वानभ्युपगमेऽपि प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रे हेतुत्वस्यौत्सर्गिकतया विघ्नध्वंसस्य कारणत्वं सिद्धमेवेति मङ्गलेऽन्यथासिद्धत्वस्य दुष्परिहारत्वादित्यरुचेराह—नव्यास्त्विति।

इस प्रकार मङ्गलका फल समाप्ति सिद्ध हुई। फिर भी विघ्नध्वंस हुए बिना समाप्ति नहीं होती। क्योंकि मङ्गल विघ्नध्वंसद्वारा ही समाप्तिका कारण है। जैसे दण्ड घटका कारण है फिर भी साक्षात् नहीं किन्तु भ्रमिके द्वारा। वैसे मङ्गल भी विघ्ननाश करके ग्रन्थ की समाप्ति करता है। अतः भ्रमिकी तरह विघ्नध्वंस एक प्रकारका व्यापार है। व्यापार उसे कहते हैं जो स्वयं कारणसे उत्पन्न हो और कार्यका जनक भी हो। मंगलसे उत्पन्न विघ्नध्वंस समाप्तिरूपी कार्यका जनक भी है। यह प्राचीन नैयायिकोंका मत है।

नवीन नैयायिक (गङ्गेशोपाध्याय) तो प्राचीनोंकी बात नहीं मानते। उनका मत है कि मङ्गल करनेका फल है विघ्नका ध्वंस करना। ग्रन्थकी समाप्ति तो ग्रन्थकर्ताकी बुद्धि और नई-नई स्फूर्ति लानेवाली बुद्धि (प्रतिभा) रूपी कारणोंसे होती है। जिस पुरुषके कार्योंमें बाधा डालनेवाले विघ्न स्वयं उत्पन्न ही नहीं हुए हैं उनके द्वारा किए गए मङ्गल तो निष्फल होंगे ही किन्तु उन लोगोंने विघ्नोंके भयसे ही मङ्गलाचरण किया है जो शिष्ट पुरुषोंका आचार है। अतः आचार पालनेका यश तो होता ही है। ठीक है—

इष्टापत्तेः। विघ्नशङ्कया तदाचरणात् तथैव शिष्टाचारात्।

न च तस्य निष्फलत्वे तद्बोधकवेदाप्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम्, सति विघ्ने तन्नाशस्यैव वेदबोधितत्वात्। अत एव पापभ्रमेण कृतस्य प्रायश्चित्तस्य निष्फलत्वेऽपि न तद्बोधकवेदाप्रामाण्यम्।

मङ्गलं च विघ्नध्वंसविशेषे कारणं विघ्नध्वंसविशेषे च विनायकस्तवपाठादि।

ननु शिष्टाचारानुमितया विघ्नध्वंसकामो मङ्गलमाचरेदिति स्मृत्या मङ्गलस्य, 'सर्वे विघ्नाः शमं यान्ति गणेशस्तवपाठतः' इति प्रत्यक्षस्मृत्या विनायकस्तवपाठस्य च कारणत्वावगमेन विनायकस्तवपाठरूपकारणाभावे मङ्गलेन, मङ्गलरूपकारणाभावे विनायकस्तवपाठेन विघ्नध्वंसस्य जननाद् व्यतिरेकव्यभिचारेण विघ्नध्वंसं प्रति मङ्गलस्य विनायकस्तवपाठस्य वा कारणतयाभ्युपगन्तुमनर्हा ?

न च विनायकस्तवपाठोऽपि मङ्गलमेवेति वाच्यम्। पाठस्य कण्ठताल्वाद्यभिघाततरूपत्वेन मङ्गलस्य च शब्दरूपत्वेन तयोरैक्यासम्भवादित्यत आह—मङ्गलं चेति। अयं भावः—मङ्गलाव्यवहितोत्तरक्षणजायमानविघ्नध्वंसत्वावच्छिन्नं प्रति मङ्गलस्य विनायकस्तवपाठाव्यवहितोत्तरक्षणजायमानविघ्नध्वंसत्वावच्छिन्नं प्रति विनायकस्तवपाठस्य—कारणतास्वीकारेण व्यतिरेकव्यभिचाराभाव इति।

ननु यत्र विघ्नो नास्ति तत्र समाप्तिर्भवति परन्तु ध्वंसं प्रति प्रतियोगिनः कारणतया प्रतियोगिनो विघ्नस्यासत्त्वेन तद्ध्वंसस्याप्यभावाद् विघ्नध्वंसरूपकारणाभावेन

किन्तु क्या मङ्गलके निष्फल होनेपर (शिष्टाचार-परम्परासे कल्पित) 'विघ्नध्वंसकामो मङ्गलमाचरेत्' यह श्रुति अप्रामाणिक सिद्ध हो जायगी ? नहीं, विघ्नके रहनेपर ही मङ्गल उसका नाश करता है यही वेदका तात्पर्य है। इसीलिये पापके भ्रमसे किए गये प्रायश्चित्तके निष्फल होनेपर भी प्रायश्चित्त बतानेवाला वेद अप्रामाणिक नहीं होता।

(कारणके बिना कार्य होना व्यतिरेकव्यभिचार कहा जाता है। विघ्नध्वंसके प्रति शिष्टाचारपरम्पराप्राप्त मङ्गलसे कल्पित 'विघ्नध्वंसकामो मङ्गलमाचरेत्' इस श्रुतिसे तथा 'सर्वे विघ्नाः शमं यान्ति गणेशस्तवपाठतः' इस स्मृतिसे मंगल और गणेशस्तवपाठ कारण माने गए हैं। किन्तु जहाँ मंगलसे विघ्नध्वंस हुआ वहाँ पाठरूपी कारणके बिना भी विघ्नध्वंसरूपी कार्य हो गया और जहाँ पाठसे विघ्नध्वंस हुआ वहाँ मङ्गलरूपी कारणके बिना कार्य हो गया। अतः व्यतिरेकव्यभिचार होगा। यह कहना ठीक नहीं) क्योंकि किसी विघ्नध्वंसका कारण मंगल होगा किसीका कारण पाठ होगा। तात्पर्य यह है कि मङ्गलाचरण करनेके ठीक बाद जो विघ्नध्वंस होगा उसके प्रति मंगल कारण है और विनायकस्तपाठके ठीक बाद जो विघ्नध्वंस होगा उसके प्रति पाठ कारण है। अतः व्यभिचार नहीं होगा।

क्वचिच्च विघ्नात्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधनं प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्यैव कार्यजनकत्वात् ।

इत्थं च नास्तिकादीनां ग्रन्थेषु जन्मान्तरीयमङ्गलजन्यदुरितध्वंसः, स्वतः सिद्धविघ्नात्यन्ताभावो वाऽस्तीति न व्यभिचार इत्याहुः ।

व्यतिरेकव्यभिचार इत्यत आह—क्वचिच्चेति । क्वचित्तु विघ्नध्वंसेन क्वचिच्च विघ्नात्यन्ताभावेन समाप्तिर्भवतीत्यर्थः ।

व्यतिरेकव्यभिचारवारणं तु विघ्नध्वंसाव्यवहितोत्तरक्षणजायमानसमाप्तिं प्रति विघ्नध्वंसस्य विघ्नात्यन्ताभावाव्यवहितोत्तरक्षणजायमानसमाप्तिं प्रति विघ्नात्यन्ताभावस्य कारणतेति रीत्या बोध्यम् ।

ननु विघ्नसंसर्गाभावत्वेन विघ्नध्वंसात्यन्ताभावयोरनुगमं कृत्वा समाप्तिं प्रति विघ्नसंसर्गाभावः कारणमिति कार्यकारणभावस्वीकारेण व्यतिरेकव्यभिचारवारणसम्भवादव्यवहितोत्तरत्वनिवेशेन तद्वारणमनुचितं गौरवादिति चेद् ? न, यस्मिन्नात्मनि समवायेन विघ्नो वर्तते तत्र संयोगेन विघ्नो नास्तीति प्रतीतिसाक्षिकविघ्नसंसर्गाभावसत्त्वेन समाप्तिवारणाय समवायसम्बन्धावच्छिन्नविघ्नत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वेन कारणता वाच्या । तथा च ध्वंसीयप्रतियोगितायाः संसर्गेण धर्मेण चानवच्छिन्नतयैकरूपेणानुगमासम्भवात् पृथगेव विघ्नध्वंसात्यन्ताभावयोः कारणता वाच्येत्याशयात् ।

ननु ध्वंसीयप्रतियोगितायां संसर्गावच्छिन्नत्वं किमिति नाङ्गीक्रियत इति चेद् ? उच्यते, समवायेन घटाधिकरणे संयोगेन घटो नास्ति, संयोगेन घटाधिकरणे समवायेन घटो नास्तीति प्रतीत्योपलक्षण्योपपत्तयेऽत्यन्ताभावीयप्रतियोगितायां सम्बन्धावच्छिन्नत्वमङ्गीक्रियते, ध्वंसे तादृशबुद्ध्यसंभवेन नाङ्गीक्रियत इति ।

वस्तुतस्तु—विघ्नध्वंसाधिकरणेऽपि समवायसम्बन्धावच्छिन्नविघ्नत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावो वर्तते ध्वंसात्यन्ताभावयोर्विरोधे मानाभावात् । ततश्च समाप्तिं प्रति विघ्नात्यन्ताभावत्वेनैव कारणता न तु विघ्नध्वंसत्वेनापीति नाव्यवहितोत्तरत्वनिवेशस्योपयोग इति ध्येयम् ।

नव्यमते व्यतिरेकव्यभिचारं परिहरति—इत्थं चेति ।

ननु ध्वंसप्रागभावयोः स्वप्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तित्वनियमः । तथा च विघ्न-

---

कहीं-कहीं तो विघ्नका सर्वथा अभाव ही समाप्तिका कारण है क्योंकि कार्यके उत्पत्तिमें प्रतिबन्धकका न रहना भी कारण है । इसप्रकार नास्तिकोंके ग्रन्थोंमें पूर्वजन्ममें किए गए मङ्गलाचरणोंसे ही पाप नष्ट हो गए हैं । या स्वयं विघ्न उत्पन्न ही नहीं हुआ है इसलिए नवीनों के मत में भी व्यभिचार नहीं है ।

संसारेति। संसार एव महीरुहो वृक्षस्तस्य बीजाय, निमित्तकारणायेत्यर्थः। एतेन ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शितं भवति। तथाहि यथा घटादिकार्यं कर्तृजन्यं तथा क्षित्यङ्कुरादिकमपि।

ध्वंसस्य प्रतियोगी विघ्नः पापं, यस्य समवायिकारणमात्मा, तत्र विघ्नध्वंसः स्वरूपेण वर्तते चरमवर्णध्वंसरूपसमाप्तेः प्रतियोगी चरमवर्णः, तस्य समवायिकारणमाकाशं, तत्र स्वरूपेण समाप्तिर्वर्तत इति समाप्तिविघ्नध्वंसयोरेकाधिकरणवृत्तित्वाभावेन कथं कार्यकारणभाव इति चेद् ? उच्यते, विघ्नध्वंसः स्वरूपेणात्मनि वर्तते स्वप्रतियोगिचरमवर्णानुकूलकृतिमत्त्वसम्बन्धेन समाप्तिरपि तत्र वर्तत इत्येव कार्यकारणयोरेकाधिकरणवृत्तित्वनिर्वाह इति। इति मङ्गलवादे नव्यमतम्।

ननु बीजनाशानन्तरं बीजावयवैरङ्कुरोत्पादाद्बीजावयवा एव वृक्षस्य समवायिकारणम्। तथा च बीजायेत्युक्त्येश्वरावयवा जगतः कारणमिति प्रतीयते। तच्चायुक्तम्, ईश्वरस्य निरवयवत्वादतो बीजायेत्यस्यार्थमाह—निमित्तकारणायेत्यर्थ इति।

नन्वीश्वरे प्रमाणाभावात्तन्नमस्करणमयुक्तम्। तथाहि, प्रत्यक्षं द्विविधं—बाह्यं मानसं च। तत्र बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्ष उद्भूतरूपस्य कारणत्वादीश्वरे रूपाभावान्न बाह्यप्रत्यक्षप्रसरः, न वा मानसप्रत्यक्षप्रसरः परात्मनः परेण मनसा प्रत्यक्षवारणायात्ममानसं प्रति परात्मव्यावृत्तविजातीयमनःसंयोगत्वेन कारणताऽभ्युपगमात्। नाप्यनुमानं प्रमाणम्' ईश्वरस्याप्रत्यक्षतया तस्य केनचिल्लिङ्गेन सहचारदर्शनाभावेन व्याप्तिग्रहाभावात्। न चोपमानं मानमीश्वरतुल्यस्य कस्यचिदभावेन सादृश्यज्ञानासत्त्वात्। नापि शब्दः प्रमाणं श्रुतीनामीश्वरोच्चरितत्वेनैव प्रामाण्यस्य वक्तव्यतया तत्रेश्वर एव संदेहेन श्रुतिप्रामाण्यस्यापि संदिग्धत्वादिति चतुर्विधप्रमाणागोचर ईश्वरः कथं नमस्कार्यताभागिति चेद्। न, कार्यं प्रति कृतेः कारणतास्वीकारेण क्षितिः कृति-

---

मूलकारने मङ्गलाचरणसे भगवानको संसाररूपी वृक्षका बीज कहा है। किन्तु जैसे बीजावयवसे अंकुर निकलते हैं वैसे ईश्वरके अवयव भी जगत् के कारण होंगे तब तो ईश्वर सावयव और अनित्य सिद्ध होगा। इसलिए बीज शब्दका अर्थ निमित्तकारण मानना चाहिए। इस लोकमें ईश्वरका नाम लेनेसे ईश्वरमें प्रमाण भी सिद्ध हो गया।

जैसे 'जो कार्य है उसका कोई कर्ता भी है जैसे घट कार्यका कर्ता कुम्भकार है। वैसे क्षिति (पृथ्वी) का और अंकुरका भी कोई कर्ता होगा। हम लोग (जीव वर्ग) पृथ्वी नहीं बना सकते और न तो अंकुर ही जमा सकते हैं। अतः कर्ता ईश्वरको ही मानना पड़ता है।

अनुमानाकार—'क्षितिः कृतिजन्या कार्यत्वात्' इस अनुमानसे पृथ्वीके कर्ताका अनुमान करना है। किन्तु एक प्रश्न उठता है कि सकल पृथ्वीमें कृतिजन्यता साधना है या सामानाधिकरण्येन। यदि सकल पृथ्वीमें साधते हों तब परमाणु भी पृथ्वी है इसके भी कर्ताकी सिद्धि होने लगेगी। किन्तु परमाणु नित्य है। यदि सामानाधिकरण्येन साधते

न च तत्कर्तृत्वमस्मदादीनां सम्भवतीत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिः। न च शरीराजन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम्। अप्रयोजकत्वात्। मम तु कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभाव एव

जन्या कार्यत्वाद्घटवदित्यनुमानेन क्षितेः कृतिजन्यत्वसिद्धौ क्षितिजनिका कृतिः यत्किञ्चिदात्मसमवेता कृतित्वादस्मदादिकृतिवदित्यनुमानेन तादृशकृत्याश्रयीभूतः कश्चिदात्मा सिध्यति। स चास्मदादिर्न सम्भवतीतीश्वरसिद्धिरित्यदोषात्।

ननु क्षितिः कृतिजन्या कार्यत्वादित्यनेन पक्षताऽवच्छेदकावच्छेदेन पक्षताऽवच्छेदकसामानाधिकरण्येन वा कृतिजन्यत्वं साध्यते? नाद्यः, पक्षताऽवच्छेदकं क्षितित्वं तदवच्छेदेन कृतिजन्यत्वसाधने परमाणौ बाधात्। न द्वितीयः, पक्षताऽवच्छेदकं क्षितित्वं तत्सामानाधिकरण्येन कृतिजन्यत्वसाधने घटादौ सिद्धसाधनापत्तेरिति चेत्? इत एवारुचेराहाङ्कुरेति।

तथा चाङ्कुरः कृतिजन्यः कार्यत्वादित्यनुमानेष्टसिद्धिः। अत्र चाङ्कुरत्वावच्छेदेन कृतिजन्यत्वसाधने न क्वापि बाधो नित्यस्याङ्कुरस्याभावात्। अङ्कुरत्वसामानाधिकरण्येन वा कृतिजन्यत्वसाधने न क्वापि सिद्धसाधनं क्वाप्यङ्कुरे जीवीयकृतिजन्यत्वासिद्धेरिति भावः।

न चाङ्कुरः कृतिजन्यत्वाभाववान् शरीराजन्यत्वादाकाशवदित्यनुमानेन सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम्, व्यभिचारशङ्कानिवर्तकतर्कशून्यत्वेन त्वदुक्तानुमानासम्भवेन सत्प्रतिपक्षितत्वाभावात्। मम तु यदि कार्यत्वं कृतिजन्यत्वव्यभिचारि स्यात्तर्हि कृतिजन्यत्वावच्छेदकं न स्यादित्येवानुकूलस्तर्कः।

ननु प्रकृतानुकूलतर्कं किम्मानमिति चेत्? तर्हि कृतित्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभाव एवेति बोध्यम्।

अत्रेदमवधेयम्—कार्यं प्रति कर्ता करणमिति स्वीकारे कर्तृत्वं कारणताऽवच्छेदकम्। तच्च कृतिमत्त्वं, कृतिमत्त्वं च कृतिरेव सा च नानेति गौरवम्। अतः कार्यं प्रति कृतिः कारणम्। तथाच कृतित्वं कारणतावच्छेदकं, तच्च नानाकृतिष्वेकमिति लाघवम्। मूले कर्तृजन्यमित्यत्र कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभाव इत्यत्र च तृजर्थस्याविवक्षितत्वेन कर्तृपदं कृतिपरमित्यलम्।

ननु कृतित्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभावे मानाभावेन त्वदुक्तानुमानेऽप्यनुकूलतर्काभावः। न चान्वयव्यतिरेकावेव मानमिति वाच्यम्, कुलालकृतिसत्त्वे घटः कुलालकृत्यभावे घटाभाव इति विशिष्यैवान्वयव्यतिरेकग्रहेण विशिष्यैव कुलालत्वेन

हैं तो घटके कर्ताकी भी सिद्धि होने लगेगी। अतः यह अनुमान ठीक नहीं किन्तु 'अङ्कुरः कृतिजन्यः कार्यत्वात्' यह ही अनुमान ईश्वरको साध सकता है।

अनुकूलस्तर्कः । 'द्यावाभूमी जनयन्देव एको विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता' इत्याद्य आगमा अप्यनुसन्धेयाः ॥ १ ॥

घटत्वेन कार्यकारणभावग्रहात् सामान्यतः कृतित्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभावग्रहे मानाभावात्।

न च विशेषतः कार्यकारणभावग्रहे 'यद्विशेषयोः कार्यकारणभावस्तत्सामान्ययोरपीति' न्याय एव सामान्यतः कार्यकारणभावे मानमिति वाच्यम्, उक्तन्याये मानाभावेन सामान्यतः कार्यकारणभावासिद्धेः।

न च कार्याभावस्य कारणाभावप्रयोज्यतानियमेन कार्यं प्रति कृतित्वेन कारणताऽनङ्गीकारे कार्याभावः किंप्रयोज्य इति प्रश्ने तत्तत्कृत्यभावकूटप्रयोज्य इत्युत्तरकरणे गौरवभिया सामान्यतः कार्यकारणभावस्यावश्यमङ्गीकर्तव्यत्वात् तथा च कार्याभावः किं प्रयोज्य इति प्रश्ने कृत्यभावप्रयोज्य इत्युत्तरकरणे लाघवमित्येव तन्न्यायबीजमिति वाच्यम्, कार्याभावः कारणाभावप्रयोज्य इति नियमस्याऽस्वीकारेण स्वरूपसम्बन्धरूपप्रयोजकत्वं प्रतीत्यनुरोधेन लध्वनतिप्रसक्तधर्मावच्छेदेन कल्प्यत इति नियमस्य स्वीकरणे च कृतित्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभावानङ्गीकारेऽपि कार्याभावः कृत्यभावप्रयोज्य इत्युत्तरस्य वक्तुं शक्यतया यद्विशेषयोरिति न्याये मानाभावादिति चेद् ?

अत्रोच्यते—कुलालकृतित्वेन घटत्वेन कार्यकारणभावस्वीकारेऽपि सर्गाद्यकालीनो घटः कुलालकृतिजन्यो घटत्वादित्यनुमानेनैवेश्वरसिद्धेः।

न चेश्वरस्य कुलालत्वापत्तिः, नमः कुलालेभ्यो नमः कर्मारेभ्य इति श्रुत्या तस्येष्टत्वावगमात्। एवं चानुमानेनेश्वरसिद्धौ तदुच्चारिता द्यावाभूमी जनयन्निति श्रुतिरपीश्वरसद्भावे प्रमाणमिति दिक्। इतीश्वरवादः ॥ १ ॥

ठीक है, किन्तु यह अनुमान तभी ईश्वरको सिद्ध कर सकता है जब कोई हेत्वाभास न हो। इसमें तो सत्प्रतिपक्ष नामका हेत्वाभास है। सत्प्रतिपक्ष उसे कहते हैं 'जिस हेतुके साध्याभावको भी सिद्ध करनेवाला दूसरा हेतु हो'। यहाँ 'अंकुरः कृतिजन्यत्वाभाववान् शरीराजन्यत्वात्', इस अनुमानसे शरीराजन्यत्वको हेतु बना कर कृतिजन्यत्वाभाव सिद्ध कर सकते हैं अतः यह अनुमान सत्प्रतिपक्षित होनेसे अयुक्त कहा जा सकता है ?

नहीं, व्यभिचारशंकानिवर्तक तर्क अनुमानका प्रयोजक होता है। पहले अनुमानमें 'कार्यत्वं कृतिजन्यत्वव्यभिचारि न वा' और दूसरेमें 'शरीराजन्यत्वं कृतिजन्यत्वाभावव्यभिचारि न वा' इसप्रकार व्यभिचार-शंकाएँ हैं किन्तु पहली शंकाका निवर्तक 'यदि कार्यत्वं कृतिजन्यत्वव्यभिचारि स्यात् तर्हि कृतिजन्यत्वावच्छेदकं न स्यात्' यह अनुकूल तर्क है। दूसरे पक्षमें कोई भी अनुकूल तर्क नहीं है। अतः दूसरे अनुमानके ठीक न होनेसे सत्प्रतिपक्ष भी नहीं है। संसारका कर्ता ईश्वर है इस पक्षमें आगम भी प्रमाण है। जैसे एक ही देव स्वर्ग और भूमिको बनाता हुआ विश्वका कर्ता और चौदह भुवनोंका रक्षक भी है ॥१॥

पदार्थान्विभजते—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम् ।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥ २ ॥

अत्र सप्तमस्याभावत्वकथनादेव षण्णां भावत्वं प्राप्तं तेन भावत्वेन पृथगुपन्यासो न कृतः । एते च पदार्था वैशेषिके प्रसिद्धा नैयायिकानामप्यविरुद्धाः । प्रतिपादितं चैवमेव भाष्ये । अत एवोपमानचिन्तामणौ सप्तपदार्थभिन्नतया शक्तिसादृश्यादीनामतिरिक्तपदार्थत्वमाशङ्कितम् :

द्रव्यं गुणस्तथेति । कर्मणः संयोगेऽन्तर्भाव इति केचित् । तद्दूषणाय तथेत्युक्तम् यथा गुणः पदार्थस्तथा कर्मापीति भावः । एवमभावस्याधिकरणात्मकत्वं न तु पदार्थान्तरत्वमिति प्रभाकरमतदूषणाय समवायस्तथाऽभावः इत्यत्रापि तथाशब्द उक्त इति बोध्यम् ।

ननु प्राचां ग्रन्थेषु पदार्थो द्विविधः—भावोऽभावश्चेत्युक्तं तद्वदिहापि कुतो नोच्यतेऽत आह—सप्तमस्याभावत्वकथनादिति ।

ननु सप्तमस्याभावत्वकथनेन कथं तदितरेषां भावत्वं प्राप्तम् ? न हि कस्यचिद् ब्राह्मणत्वे प्रतिपादिते तदितरस्याब्राह्मणत्वं प्रतिपादितं भवतीति चेद् ? उच्यते,

---

पदार्थोंका विभाग करते हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव नामके सात पदार्थ ही कहे गए हैं ।

इस कारिकामें दो बार तथा शब्दका प्रयोग हुआ है जिसमें पहले तथाका अर्थ है कि जैसे गुण पदार्थ है वैसे कर्म भी पदार्थ है । कुछ लोग कर्मको पदार्थ न मानकर संयोगरूपी गुणमें ही अन्तर्भूत करते थे । दूसरेका अर्थ है जैसे समवाय पदार्थ है वैसे अभाव भी पदार्थ ही है मीमांसक लोग अभावको अधिकरणरूप ही मानते हैं अतः उनके मतोंको खण्डन करनेके लिए अभाव अलग पदार्थ माना गया है ।

कुछ लोगोंका कहना है कि पदार्थ दो प्रकारके होते हैं—एक भाव और दूसरा अभाव । किन्तु हमने इस ग्रन्थमें सातवें पदार्थको अभाव कहा है उसके पूर्वके ६ पदार्थ स्वयं भाव सिद्ध हो जाते हैं । अतः वैसा विभाग नहीं किया ।

ये सात पदार्थ वैशेषिक शास्त्रके हैं और नैयायिकोंके विरुद्ध भी नहीं हैं । भाष्य (अ० १ आ० १ सूत्र ३) में भी इसी प्रकार लिखा है । इसलिए तत्त्वचिन्तामणिके उपमान खण्डमें सात पदार्थोंसे अतिरिक्त शक्ति और सादृश्य नामके दो पदार्थोंकी शङ्का भी की गई है ।

ननु कथमेत एव पदार्थाः शक्तिसादृश्यादीनामप्यतिरिक्तपदार्थ-

त्वसमभिव्याहृतपदार्थताऽवच्छेदकव्याप्यमिथोविरुद्धयावद्धर्मप्रकारकबोधानुकूल-व्यापारस्यैव विभागपदार्थतया प्रकृते सप्तमस्याभावत्वे तदन्यस्य द्रव्यादेरप्यभावत्वे पदार्थान् विभजत इति प्रयोगानुपपत्तिरतस्तद्व्यस्यार्थाद् भावत्वं प्राप्तमित्याशयः।

समन्वयस्तु—त्वं विपूर्वकभजधातुः, तत्समभिव्याहृतं पदं पदार्थपदं, तदर्थताऽवच्छेदकं पदार्थत्वं, तद्व्याप्यं मिथो विरुद्धं च द्रव्यत्वादिकं, तत्प्रकारकबोधानुकूलो व्यापारः द्रव्यं कर्मेत्यादिशब्दप्रयोगरूपः।

एवं द्रव्याणि विभजत इत्यत्रापि बोध्यम्।

व्याप्येत्यस्यानुपादाने द्रव्याणि विभजत इति प्रतिज्ञाय गुणः पृथिवी जलं तेज इत्यादिशब्दप्रयोगस्यापि विभागत्वं स्यात्। मिथोविरुद्धेत्यस्यानुपादाने घटः पृथिवी-त्यादिशब्दप्रयोगस्यापि तत्त्वं स्यात्। यावदित्यस्यानुपादाने पृथिवी जलं तेज इत्येतन्मात्रशब्दप्रयोगस्यापि विभागत्वं स्यादिति बोध्यम्।

ननु यदि दाहं प्रति वह्नेरेव कारणता स्यात् तर्हि(१)प्रतिबन्धकचन्द्रकान्तमणि-समवधाने दाहः किं न जायतेऽतः कारणान्तरमपि कल्पनीयम्। तच्च शक्तिरूपम्। सा च शक्तिस्त्रिधा—सहजा शक्तिराधेयशक्तिः पदशक्तिश्चेति। आद्या वह्न्यादिनिष्ठा। प्रोक्षणादिजन्या व्रीह्यादिनिष्ठा शक्तिर्द्वितीया। तत्तदर्थनिरूपिता तत्तत्पदनिष्ठा शक्ति-स्तृतीया। तथा च दाहं प्रति दाहानुकूलशक्तेर्वह्नेश्च कारणतेति स्वीकारेण प्रतिबन्धक-समवधाने वह्निनिष्ठा दाहानुकूला शक्तिर्नश्यतीति शक्तिरूपसहकारिकारणविरहादेव दाहो न जायते। प्रतिबन्धकापसारणे उत्तेजकसूर्यकान्तमणिसमवधाने वा शक्ति-रुत्पद्यत इति दाह उपपद्यते। सा शक्तिर्न द्रव्यगुणकर्मान्यतमरूपा गुणादिवृत्तित्वाद् नापि सामान्याद्यन्यतमरूपा उत्पत्तिमत्त्वे सति विनाशित्वात्, प्रागभावध्वंसयोर्व्य-भिचारवारणाय क्रमेण दलद्वयम्; इति शक्तेः क्लृप्तपदार्थेष्वनन्तर्भावात्पदार्थाः सप्तविध इति कथनमसङ्गतमिति चेद्? न, प्रतिबन्धकमण्यभावविशिष्टवह्नेरेव दाहं प्रति करणताऽङ्गीकारेण प्रतिबन्धकसमवधाने प्रतिबन्धकमण्यभावविशिष्टवह्निरूप-कारणाभावादेव दाहाभावोपपत्तौ वह्नौ शक्तिकल्पने मानाभावेन शक्तेरतिरिक्तत्वादि-शङ्काया दूरापास्तत्वात्।

इसपर शंका होती है कि जब (२) शक्ति और सादृश्य नामके दो पदार्थ हैं तब उन्हें न मान कर सात ही पदार्थ क्यों स्वीकार किए गए। (शक्तिके बारेमें मैं बता रहा हूँ कि

---

(१) कारणीभूताभावप्रतियोगित्वं प्रतिबन्धकत्वम्।

(२) शक्तिको पदार्थ माननेवाले मीमांसकोंका यह मत है कि—अग्निके प्रति तृण, अरणी और मणि अलग-अलग कारण हैं। जिनमें एकके बिना भी किसी भी दूसरे कारणसे अग्निरूपी कार्यकी उत्पत्ति होती है। अतः नैयायिकोंको व्यभिचार रोकनेके लिए

त्वात्? तथाहि, मण्यादिसमवहितेन वह्निना दाहो न जन्यते, तच्छून्येन तु जन्यते। तत्र मण्यादिना वह्नौ दाहानुकूला शक्तिर्नाश्यते, उत्तेजकेन मण्याद्यपसारणेन च जन्यत इति कल्प्यते।

न च विनिगमनाविरहेण विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासेन मण्यभावविशिष्टवह्नेर्वह्निविशिष्टमण्यभावस्य वा कारणताऽऽपत्त्या मण्यभावविशिष्टवह्नित्वस्य वह्निविशिष्टमण्यभावत्वस्य च कारणताऽवच्छेदकत्वकल्पने गौरवं, शक्तित्वस्य वह्नित्वस्य च तत्कल्पने लाघवमिति वाच्यम्। ममापि दाहं प्रति मण्यभावो वह्निश्च कारणमिति स्वातन्त्र्येण कार्यकारणभावस्वीकारेण गौरवाभावात्।

न चोत्तेजक (१) सत्त्वे प्रतिबन्धकसद्भावे कथं दाह इति वाच्यम्, उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य हेतुताऽङ्गीकारेण दोषाभावात्। तथाहि, विशिष्टाभावस्त्रिधा—विशेषणाभावप्रयोज्यः विशेष्याभावप्रयोज्यः उभयाभावप्रयोज्यश्चेति। अयोध्यास्थे ब्राह्मणे काशीस्थत्वरूपविशेषणाभावप्रयोज्यः काशीस्थत्वविशिष्टब्राह्मणत्वाभावः। काशीस्थशूद्रे काशीस्थत्वरूपविशेषणस्य सत्त्वेऽपि ब्राह्मणत्वरूपविशेष्यस्याभावाद् विशेष्याभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः। अयोध्यास्थे शूद्रे काशीस्थत्वरूपविशेषणस्य ब्राह्मणत्वरूपविशेष्यस्य चाभावाद् उभयाभावप्रयुक्तः। एवं प्रकृते उत्तेजकप्रतिबन्धकवह्नीनां समवधाने उत्तेजकाभावरूपविशेषणासत्त्वेन विशेषणाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः, वह्निमात्रसत्त्वे उत्तेजकाभावरूपविशेषणरूपसत्त्वेऽपि मणिरूपविशेष्यस्याभावेन विशेष्याभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः, उत्तेजकस्य वह्नेश्च सत्त्वे उत्तेजकाभावरूपविशेषणस्य मणिरूपविशेष्य च भावादुभयाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभाव इति त्रिषु स्थलेषु दाहः। यत्र प्रतिबन्धकवह्नी तत्रोत्तेजकाभावविशिष्टमणेरेव सद्भावान्न दाहः। किञ्च शक्तेरनन्तावयवध्वंसादिकल्पने गौरवं च स्यादिति दिक्।

जैसे) चन्द्रकान्तमणिके समीप रहनेपर अग्नि नहीं जलती किन्तु उसके हटा देनेपर जलने लगती है। इससे यह ज्ञात होता है कि अग्नि में रहनेवाली दाहकता शक्ति चन्द्रकान्तमणिसे नष्ट की जाती है और चन्द्रकान्तमणिको हटाकर या उत्तेजक मणि (सूर्यकान्तमणि) को भी

तत्तदव्यहितोत्तरत्वका निवेश करना पड़ता है। मीमांसकोंके मतमें तो अग्निके अनुकूल शक्तिमत्ताको ही कारण मान लेनेसे व्यभिचार वारण हो जाता है। दूसरी बात यह कि अभाव एक शून्यरूप है वह किसीका कारण बन नहीं सकता फिर मण्यभाव दाहके प्रति कारण कैसे हो सकता है। मीमांसकोंके मतमें चन्द्रकान्तमणि प्रतिबन्धक होगा उसे शक्तिरूपी कारणका विघटक माना जाता है।

(१) प्रतिबन्धकसमानकालीनकार्यजनकत्वमुत्तेजकत्वम्।

एवं सादृश्यमप्यतिरिक्तः पदार्थः, तद्धि न षट्सु भावेष्वन्तर्भवति सामान्येऽपि सत्त्वात्, यथा गोत्वं नित्यं तथाऽश्वत्वमपीति सादृश्यप्रतीतेः; नाप्यभावे सत्त्वेन प्रतीयमानत्वादिति चेद् ?

न, मण्याद्यभावविशिष्टवह्न्यादेर्दाहादिकं प्रति स्वातन्त्र्येण मण्यभावादेरेव वा हेतुत्वं कल्प्यते। अनेनैव सामञ्जस्येऽनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वंसकल्पनाऽनौचित्यात्।

शक्तिवादिनां मीमांसकानां त्विदमाकूतम्—वह्निं प्रति तृणस्यारणेर्मणेश्च कारणतेति तृणाभावे मणिना मण्यभावेऽरणिना तदभावे तृणेन च वह्नेर्जननाद् व्यभिचारेण कस्यापि कारणत्वं न स्यादिति तत्तद्व्यवहितोत्तरत्वमन्तर्भाव्य कार्यकारणभावो वाच्यस्तार्किकैः, अस्माकं तु वह्न्यनुकूलशक्तिमत्त्वेनानुगमसम्भवान्न व्यभिचारो न वा गौरवम्। किं च शून्यस्य अभावस्य कुत्रापि कारणत्वानङ्गीकारेण दाहं प्रति मण्यभावस्य कारणत्वानुपपत्तिः। किं चास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छायाः पदशक्तित्वे पदस्य गुणत्वेन गुणे गुणानङ्गीकारेण पदनिष्ठत्वानुपपत्ति। कारणे कश्चिदतिशयमनापादयतो मणेः प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तिश्च। अस्माकं तु शक्तिरूपकारणविघटनेनैव मणेः प्रतिबन्धकत्वमिति।

रखकर दाहकता शक्ति पैदा की जाती है। इसी प्रकार सादृश्य भी अतिरिक्त पदार्थ है। पदार्थोंमें अन्तर्हित नहीं किया जा सकता क्योंकि जातिमें कोई पदार्थ नहीं रहता किन्तु यह जातिमें भी रहता है। जैसे 'गोत्व नित्य है वैसे अश्वत्व भी नित्य है' इस उदाहरणमें जातिमें सादृश्य दिखाया गया है। अभावमें भी इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि उसकी प्रतीति भावरूपसे होती है। इसलिए शक्ति और सादृश्यको पदार्थ मानना चाहिए।

किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि—दाहके प्रति मण्यभावविशिष्ट अग्निको कारण मानते हैं। जिससे जहाँ मणि और अग्नि दोनों रहेगा वहाँ कारणके न रहनेसे ही कार्य नहीं उत्पन्न होगा। किन्तु इस प्रकार कार्यकारणभाव मानने पर और विशेष्यविशेषणमें नियम न रहनेसे मण्यभावविशिष्ट वह्नि और वह्निविशिष्ट मण्यभाव भी कारण होंगे; जिससे मण्यभावविशिष्ट वह्नित्व और वह्निविशिष्ट मण्यभावत्वको कारणतावच्छेदक माननेमें गौरव होगा। अतः शक्तित्व और वह्नित्वको कारणतावच्छेदक मानना चाहिए। यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि—दाह के प्रति 'मण्यभाव' और 'वह्नि' अलग-अलग कारण हैं। जिससे कारणतावच्छेदकमें गौरव भी नहीं होगा। साथ ही साथ शक्तिपदार्थ, उसके अनन्तभेद, उनका अनन्तप्रागभाव, अनन्तध्वंस भी नहीं मानना पड़ेगा।

न चोत्तेजके सति प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि कथं दाह इति वाच्यम्, उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य हेतुत्वात्।

सादृश्यमपि न पदार्थान्तरं किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्त्वं मुखे चन्द्रसादृश्यमिति ॥ २ ॥

उत्तेजकाभावविशिष्टेति। वैशिष्ट्यं सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन। अयम्भावः—अभावीयविशेषणतासम्बन्धेन रूपध्वंसरूपदाहं प्रति उद्देश्यता-दैशिकविशेषणतान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां तत्तदुत्तेजकानां सामानाधिकरण्यरूपं यद्वैशिष्ट्यं, तदवच्छिन्नस्य मण्यादेर्दैशिकविशेषणतोद्देश्यतान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य अभावीयविशेषणतासम्बन्धेन हेतुत्वमिति। मन्त्रस्य बह्वधिकरणदेशे उद्देश्यतासम्बन्धेनैव सत्त्वादुद्देश्यतानिवेशः। मण्यादिरूपोत्तेजकस्य संयोगेन बह्वधिकरणदेशे सत्त्वेऽपि किञ्चिदवच्छेदेन संयोगेन तदभावसत्त्वाद्दाहानुपपत्तिरतो दैशिकविशेषणतेत्यस्य निवेशः। दैशिकविशेषणतया तु न द्रव्यस्याव्याप्यवृत्तित्वमिति न दाहानुपपत्तिरिति।

ननु देवदत्तसदृशो यज्ञदत्त इति प्रतीत्या सादृश्यमपि पदार्थः। तच्च सादृश्यं षड्भावानन्तर्भूतं सामान्येतरवृत्तित्वे सति सामान्यवृत्तित्वात्। सामान्यत्वे व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम्। गुणे व्यभिचारवारणाय विशेष्यम्। यथा गोत्वं नित्यं तथाऽश्वत्वमपीति प्रतीत्या सादृश्यस्य सामान्यवृत्तित्वं बोध्यम्। प्रमेयत्वे व्यभिचारवारणाय व्यतिरेकित्वे सतीति देयम्। सादृश्यमभावानन्तर्भूतं सत्त्वेन प्रतीयमानत्वादित्यनुमानाभ्यां सादृश्यस्य सप्तपदार्थानन्तर्गततया सप्तैव पदार्था इति कथनमसङ्गतमेवेति चेत्? न, तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वस्यैव सादृश्यरूपतया घटसदृशः पट इत्यादौ जातौ, यथा गोत्वं नित्यं तथाऽश्वत्वमपीत्यादौ चन्द्रसदृशं

अब बात यह रही कि 'उत्तेजक' और प्रतिबन्धक मणियोंके साथ रहने पर दाह क्यों होता है।' इसका उत्तर तो स्पष्ट है क्योंकि 'उत्तेजकाभावविशिष्ट मण्यभाव ही दाह के प्रति कारण है।' जहाँ दोनों मणियाँ हैं वहाँ 'उत्तेजकाभावविशिष्ट प्रतिबन्धकमणि नहीं है। अतः दाह होता है। क्योंकि उत्तेजकाभावविशिष्ट मणि ही प्रतिबन्धक है।

इसी प्रकार सादृश्य भी अतिरिक्त पदार्थ नहीं है किन्तु सादृश्य वह वस्तु है जो किसी से भिन्न हो किन्तु उसमें रहनेवाले धर्म प्रायः उसमें रहते हों, जैसे 'चन्द्र इव मुखम्' इस वाक्यका चन्द्र सदृश मुख अर्थ है इसमें सादृश्य यही है कि मुख चन्द्रमासे भिन्न है किन्तु चन्द्रमामें वर्तमान 'चित्तको आह्लादित करना' रूपी धर्म मुखमें भी है क्योंकि सुन्दर मुख देखकर भी चित्त प्रसन्न हो उठता है। इसलिए इसी आह्लादकत्व आदि उपाधियोंमें

द्रव्याणि विभजते—

क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः ।

द्रव्याणि,

क्षित्यबित्यादि । क्षितिः पृथिवी, आपो जलानि, तेजो वह्निः, मरुद् वायुः, व्योमः आकाशः, कालः समयः, दिग् आशा, देही आत्मा, मन एतानि नव द्रव्याणीत्यर्थः ।

सुखमित्यादौ च नित्यत्वाह्लादकत्वादिरूपोपाधौ सादृश्यस्यान्तर्भावेणातिरिक्तत्व-शङ्काऽनवकाशात् ।

ननूपाधीनां कुत्रान्तर्भाव इति चेद् ? न कुत्रापीति केचित् ।

न च तेषां सप्तपदार्थानन्तर्गतत्वे सप्तपदार्था इति कथनासङ्गतिरिति वाच्यम्, तत्त्वज्ञानोपयोगिनां पदार्थानामेवेह विभाज्यत्वेनाभिमततयोपाधीनामकथनेऽपि क्षत्यभावात् ।

वर्द्धमानोपाध्यायास्तु 'सामान्यं द्विविधं जातिरुपाधिश्च' इत्युक्त्वा सामान्येऽन्तर्भावमुपाधीनां वदन्ति ॥ २ ॥

क्षयार्थकक्षिधातोः 'स्त्रियां क्तिन्' इति क्तिन्प्रत्ययनिष्पन्नक्षितिशब्दस्य क्षयवाचकत्वात् प्रकृतोपयुक्तमर्थमाह—क्षितिः पृथ्वीति । क्षीयन्ते जना अस्यामिति बाहुलकादधिकरणे क्तिन्निति भावः । 'अप्तृन्' इति पाणिनिसूत्रेऽपशब्दे शब्दपरत्वस्य दृष्टतया प्रकृते शब्दपरत्वशङ्काव्युदासायाह—आपो जलानीति । 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इति कोशात्प्रतापस्यापि तेजःशब्दवाच्यतया प्रकृते तेजःपदार्थमाह—तेजो वह्निरिति । देवविशेषस्यापि मरुच्छब्दार्थमाह—मरुद्वायुरिति । 'परमे व्योमन्' इति श्रुतौ व्योमशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयोगादाह—व्योम आकाश इति । कालशब्दस्य यमे प्रसिद्धत्वादाह—कालः समय इति । अतिसर्जनार्थकदिश्धातुनिष्पन्न-

---

सादृश्यका अन्तर्भाव करना चाहिए । वर्धमानोपाध्यायके मतसे उपाधि सामान्य नामक पदार्थमें अन्तर्हित है किन्तु दूसरे लोग उसे अलग पदार्थ मानते हैं और कहते हैं कि अनेक पदार्थोंके रहनेपर भी तत्त्वज्ञानोपयोगी पदार्थ सात ही हैं ॥ २ ॥

द्रव्योंका विभाग करते हैं :—

क्षिति, अप् , तेज, मरुत, व्योम, काल, दिक् , देही और मन (ये नव) द्रव्य हैं ।

भ्रमनिवारणके लिए व्याख्या भी स्वयं करते हैं—क्षिति=पृथिवी, अप्=जल, तेज = अग्नि, मरुत = वायु, व्योम = आकाश, काल = समय, दिक् = दिशा, देही = आत्मा और मन ये ही नव द्रव्य हैं ।

ननु द्रव्यत्वजातौ किं मानम् ? न हि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं, घृतजतु-प्रभृतिषु द्रव्यत्वाग्रहादिति चेद् ?

दिक्शब्दस्य दानार्थकत्वादाह—दिग् आशेति। ईश्वरस्य देहाभावाद् देहिपदेन सङ्ग्रहो न स्यादत आह—देही आत्मेति। मनश्शब्देऽन्यार्थपरत्वशङ्काया अभावेन तत्पर्यायप्रदर्शनं ग्रन्थकृता न कृतमिति ध्येयम्।

ननु कारिकावल्यामितः प्राङ्मुक्तावल्यां वा द्रव्यत्वस्य तज्जातित्वस्य वाऽनुक्ततया द्रव्यत्वजातौ किम्मानमिति शङ्कोत्थितिः कथमिति चेद् ? उच्यते, मूले द्रव्याणीत्युक्तं तत्र द्रव्याणीत्यस्य यदि गुणवन्तीत्यर्थस्तदा गुणानां शक्यताऽवच्छेदकत्वे गौरवम्, 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' इति नियमेनोत्पन्नघटे द्रव्यशब्दप्रयोगानुपपत्तिश्चातो द्रव्याणीत्यस्य द्रव्यत्वजातिविशिष्टानीत्यर्थो वाच्यः। तदा च द्रव्यत्वस्य शक्यताऽवच्छेदकतया न गौरवम्, न चोत्पन्नघटे द्रव्यशब्दप्रयोगानुपपत्तिर्द्रव्यत्वजातेस्तत्र सत्त्वात्।

एवं च द्रव्याणीत्यनेन द्रव्यत्वजातेरुपस्थित्या द्रव्यत्वजातौ किं मानमिति शङ्काकरणमुचितमेवेति बोध्यम्।

ननु द्रव्यत्वजातौ किं मानम्।

न च यथा 'अयं घटः अयं घटः' इति समानाकारप्रतीत्या घटत्वजातिः प्रत्यक्षा तथा 'इदं द्रव्यम् इदं द्रव्यम्' इति समानाकारप्रतीत्या द्रव्यत्वजातिरपि प्रत्यक्षेति वाच्यम् ?

(१) घृतजतुप्रभृतिषु पण्डितानामिदं द्रव्यमिति प्रतीतिसद्भावेऽपि पामराणामिदं

मुक्तावलीमें 'द्रव्यत्वजातिमें क्या प्रमाण है' यह प्रश्न किया गया है। यद्यपि अभी तक कहीं भी द्रव्यत्व जातिका नाम नहीं लिया गया है जिसके विषयमें प्रश्न किया जाता। तथापि इसका तात्पर्य यह है कि 'तत्र द्रव्याणि' इसमें द्रव्याणि पदका 'गुणवन्ति' या 'द्रव्यत्वजातिविशिष्टानि' यही अर्थ किया जासकता है। जिसमें गुणवन्ति अर्थ करनेसे दो दोष होगें। एक तो शक्यतावच्छेदक गुण होगा। दूसरे 'उत्पन्न द्रव्य क्षणभर निष्क्रिय और निर्गुण रहता है' इस नियमका विरोध होगा। क्योंकि उत्पत्तिक्षणमें द्रव्यमें गुण न रहनेसे द्रव्य कहा ही न जा सकेगा। अतः दूसरा अर्थ ही मानना उचित होगा। दूसरा अर्थ माननेसे 'द्रव्यत्व जाति' के बारेमें प्रश्न करना उचित ही है। अतएव प्रश्न हुआ कि द्रव्यत्व जातिमें

(१) ननु घटादावित्येव कुतो नोक्तमिति चेद् ? न, अनुगतप्रतीत्यभावसूचनाय तदुपादानात्। तथाहि, अनुगताकृतिव्यङ्ग्या मनुष्यत्वादिजातिः नहि नवसु द्रव्येषु काचिदेकाकृतिरस्ति रूपादिष्वेकैकद्रव्येष्वपि सर्वदा नैकाकृतिः किमुत नवसु द्रव्येषु इति अनुगताकृत्या-द्रव्यत्वं न सेत्स्यतीति भावः।

द्रव्यमिति प्रतीत्यभावेनाऽऽपामरप्रसिद्धानुगतप्रतीतेरेव जातिसाधकतया प्रकृते तस्या अभावेन प्रत्यक्षप्रमाणेन द्रव्यत्वजातिसिद्धेरयोगादिति चेद् ?

न, गुणे गुणोत्पत्तिवारणाय समवायेन कार्यं प्रति तादात्म्येन द्रव्यं कारणमिति कार्यकारणभावस्यावश्यकतया समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठकारणता लभ्यते। ततश्च यत्र यत्र कारणतात्वं तत्र तत्र किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्वमिति दण्डादिनिष्ठकारणतादौ सहचारदर्शनेन कारणतात्वं किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्वव्याप्यमिति व्याप्तिज्ञानं जायते। ततः कारणतात्ववत्येषा द्रव्यनिष्ठा कारणतेति पक्षधर्मताज्ञानम्। ततो व्याप्तिस्मरणम्। ततः किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्वव्याप्यकारणतात्ववत्येषा कारणतेति परामर्शज्ञानम्। ततः समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा कारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वाद् दण्डत्वावच्छिन्नदण्डनिष्ठकारणतावदित्यनुमानेन किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्वसिद्धौ यद्धर्मावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा कारणता तदेव द्रव्यत्वमिति द्रव्यत्वजातिसिद्धेः।

न च पदार्थत्वं घटत्वं वा द्रव्यनिष्ठकारणताऽवच्छेदकमस्त्विति वाच्यम्, अन्यूनानतिप्रसक्तधर्मस्यैवावच्छेदकत्वमिति नियमेन पदार्थत्वस्य द्रव्यनिष्ठकारणताऽतिरिक्तवृत्तित्वेन घटत्वस्य च द्रव्यनिष्ठकारणतान्यूनवृत्तित्वेनावच्छेदकत्वासम्भवात्।

न चान्यूनानतिप्रसक्तधर्मस्यैवावच्छेदकत्वाङ्गीकारे दण्डनिष्ठकारणताऽवच्छेदकं दण्डत्वमपि न स्याद्, अनन्यथासिद्धकार्यनियतपूर्ववर्तित्वरूपकारणत्वाभाववत्यरण्यस्थदण्डे दण्डत्वस्य सत्त्वेनातिप्रसक्तत्वादिति वाच्यम्, अनन्यथासिद्धकार्यनियतपूर्ववर्तिजातीयत्वरूपकारणत्वस्यारण्यस्थदण्डेऽपि सत्त्वेन दण्डत्वस्य कारणतातिरिक्तत्वाभावात्। घटनियतपूर्ववर्तिदण्डे फलोपधायकतारूपा; अरण्यस्थदण्डे स्वरूपयोग्यतारूपा कारणतेत्यवधेयम्। दण्डत्वस्य कारणतावच्छेदकत्वसिद्ध्यर्थमेव स्वरूपयोग्यतारूपा कारणताऽरण्यस्थदण्डे स्वीक्रियत इति ध्येयम्।

ननु समवायेन नीलं प्रति स्वाश्रयसमवेतद्रव्यत्वसम्बन्धेन नीलस्य हेतुतास्वीकारेण नीले नीलोत्पत्तिवारणसम्भवे समवायेन कार्यं प्रति तादात्म्येन द्रव्यं कारणमिति कार्यकारणभावे मानाभावः, किञ्च प्रागभावप्रतियोगित्वरूपकार्यत्वस्य ध्वंस-

---

क्या प्रमाण है ? 'यह घट' 'यह घट' इस प्रकारकी समान प्रतीतिसे जैसे घटत्व जाति प्रत्यक्ष है वैसे 'यह द्रव्य, यह द्रव्य' इस प्रकारकी समान प्रतीतिसे द्रव्यत्व जाति प्रत्यक्ष तो नहीं मानी जा सकती। क्योंकि घी और लाह आदिमें विद्वान् चाहे द्रव्य समझलें किन्तु अनपढ़ तो इसे द्रव्य नहीं कह सकता 'और अनपढ़से लेकर उच्चकोटिके विद्वानों को जिस प्रकार एक प्रतीति हो उसी लिए तो जाति मानी जाती है'। अतः प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाति सिद्ध नहीं हो सकती तब द्रव्यत्व जातिमें प्रमाण क्या ?

न, कार्यसमवायिकारणताऽवच्छेदकतया संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणताऽवच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धेरिति ।

साधारण्येन समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतातिरिक्तवृत्तितया समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यताऽवच्छेदकत्वासम्भवः, सत्वे सति प्रागभावप्रतियोगित्वरूपकार्यत्वस्याऽवच्छेदकत्वे च गौरवमिति नोक्तानुमानसम्भव इत्यरुचेराह—संयोगस्येति ।

अयं भावः—'समवायेन संयोगं प्रति तादात्म्येन द्रव्यं कारणम्' इति कार्यकारणभावस्वीकारेण समवायसम्बन्धावच्छिन्नसंयोगत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वादित्यनुमानेन द्रव्यत्वजातिसिद्धिरिति ।

ननु रूपादीनपहाय संयोगपर्यन्तमनुधावनं किमर्थमिति चेद् ? उच्यते, रूपरसगन्धस्पर्शनिरूपितकारणताया नवद्रव्यसाधारण्याभावात् संख्यापरिमाणपृथक्त्वनिरूपितकारणताया नवद्रव्यसाधारण्येऽपि संख्यात्वादीनां नित्यानित्यवृत्तितया कार्यतातिरिक्तवृत्तित्वेन कार्यताऽवच्छेदकत्वासम्भवाद् रूपादिकारणताऽवच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्ध्यसम्भव इति ।

ननु विभुद्वयसंयोगस्य नित्यतया तदङ्गीकर्तृमते संयोगत्वस्यापि नित्यानित्यवृत्तितया कार्यताऽवच्छेदकत्वासम्भवेनोक्तानुमानासम्भव इत्यरुचेराह —विभागस्येति ।

समवायेन विभागं प्रति तादात्म्येन द्रव्यं कारणमिति स्वीकारेण समवायसम्बन्धावच्छिन्नविभागत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपित-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठ

इस प्रश्नके उत्तरमें तो यही कहा जायगा कि द्रव्यत्व जातिका ज्ञान अनुमान प्रमाणसे होगा। जैसे 'समवायसम्बन्धसे संयोगके प्रति तादात्म्यसम्बन्धसे द्रव्य कारण होता है।' यह कार्यकारणभाव मानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अनुमानमें पक्ष, साध्य और हेतुका ज्ञान अत्यावश्यक होता है इसलिए समवायसम्बन्धावच्छिन्नसंयोगत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा कारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, यह अनुमानका आकार है। जहाँ जहाँ कारणता होगी वह किसी धर्मसे विशिष्ट अवश्य होगी—यह व्याप्तिज्ञान है। इसके बाद 'कारणवती एषा द्रव्यनिष्ठा कारणता' यह पक्षधर्मताज्ञान है। फिर व्याप्तिस्मरण फिर 'किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्वव्याप्यकारणतावती एषा कारणता' यह परामर्श, तब उक्त अनुमान होता है। किन्तु कुछ लोग दो विभुओं (व्यापकों) के संयोग को नित्य मानते हैं। इसलिए संयोगत्व भी नित्य और अनित्य वृत्ति होगा। जिससे कार्यतावच्छेदक नहीं हो सकता क्योंकि जो कार्य होता है वह अनित्य ही होता है। अतः यह अनुमान ठीक नहीं है। इसलिए दूसरा अनुमान करते हैं कि 'समवायसम्बन्धसे विभागके प्रति तादात्म्यसम्बन्धसे द्रव्यकारण होता है' अनुमानाकार-समवायसम्बन्धावच्छिन्नविभागत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्य-

ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम्? तद्धि प्रत्यक्षेण गृह्यते। तस्य च रूपवत्त्वात् कर्मवत्त्वाच्च द्रव्यत्वम्। तद्धि गन्धशून्यत्वान्न पृथिवी, नीलरूपवत्त्वाच्च न जलादिकम्। तत्प्रत्यक्षे चालोकनिरपेक्षं चक्षुः कारणमिति चेद्?

न, आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा, कर्मवत्ताप्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव। तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वेऽनन्तावयवादि-

---

कारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वाद् दण्डत्वावच्छिन्नदण्डनिष्ठकारणतावदित्यनुमानेन द्रव्यत्वजातिसिद्धिरिति भावः।

नन्नु नीलं तमश्चलतीतिप्रतीत्या चाक्षुषप्रत्यक्षसिद्धतमसः तमो द्रव्यं रूपवत्त्वात्कर्मवत्त्वाच्चेत्यनुमानेन द्रव्यत्वसिद्धौ तमः पृथिवीत्वाभाववद्गन्धशून्यत्वात्, तमो न जलाद्यन्यतमरूपं नीलरूपवत्त्वादित्यनुमानाभ्यां क्लृप्तनवद्रव्येष्वन्तर्भावाभावाद्दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम्?

न च चाक्षुषप्रत्यक्षे आलोकसहकृतचक्षुषः कारणत्वात्तमसः कथं चाक्षुषत्वमिति वाच्यम्? वस्तुस्वभावात्तमश्चाक्षुषे आलोकनिरपेक्षस्यैव चक्षुषः कारणत्वाभ्युपगमेनादोषादिति चेद्? न, तमसस्तेजोऽभावरूपताऽङ्गीकारेणैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अनुचितत्वात्। रूपवत्त्वप्रतीतिर्भ्रमरूपा कर्मवत्त्वप्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेवेति न रूपवत्त्वकर्मवत्त्वहेतुभ्यां द्रव्यत्वं साधयितुमलम्।

नन्नु प्रतीतेर्भ्रान्तित्वं तत्रैव स्वीक्रियते यत्रोत्तरकाले बाधः, प्रकृते च न तथेति कथं भ्रान्तित्वमिति चेद्? न, तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वाङ्गीकारेऽनन्तावयवादिकल्पने गौरवापत्त्या लाघवार्थं प्रतीतेर्भ्रमत्वस्यैवौचित्यात्।

सम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठकारणता, किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणत्वात्, दण्डत्वावच्छिन्नदण्डनिष्ठकारणतावत्। इस प्रकार द्रव्यजाति सिद्ध होती है।

ऊपर द्रव्यों का विभाग कहा गया जिसमें नव द्रव्यों की गणना है किन्तु तम (अन्धकार) नामका दशम द्रव्य क्यों नहीं गिना गया? यह प्रत्यक्षप्रमाणद्वारा जाना जाता है और रूप तथा कर्मका आश्रय होनेके कारण द्रव्य ही मानना भी चाहिए। वह पृथ्वी नहीं है क्योंकि अन्धकारमें गन्ध नहीं है। जल भी नहीं है क्योंकि यह नीलरूपताका है जलमें अभास्वर शुक्लरूप रहता है। यदि आप इसको देखना चाहें तो प्रकाशका सहारा लिए बिना देख सकते हैं। किन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि आवश्यक तेजके अभावको यदि अन्धकार मान लिया जाय तो काम चल सकता है फिर नया द्रव्य मानना अन्याय होगा। रूपकी प्रतीति तो भ्रम है और दीपकके चलनेसे वह चलता हुआ जान पड़ता है इसलिए उसमें

कल्पनागौरवं च स्यात् । स्वर्णस्य यथा तेजस्यन्तर्भावस्तथा वक्ष्यते । गुणान्विभजते—

—अथ गुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ॥ ३ ॥
स्पर्शः सङ्ख्या परिमितिः पृथक्त्वं च ततः परम् ।
संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम् ॥ ४ ॥
बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम् ।
द्रवत्वं स्नेहसंस्कारावदृष्टं शब्द एव च ॥ ५ ॥

अथ गुणा इति । एते गुणाश्चतुर्विंशतिसङ्ख्याकाः कणादेन कण्ठतश्चशब्देन च दर्शिताः । तत्र गुणत्वजातिसिद्धिरग्रे वक्ष्यते ॥ ३-५ ॥

ननु तम एव द्रव्यं तेज एव तमोऽभाव इति चेद् ? न, उष्णस्पर्शवत्त्वप्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या तेजसोऽभावरूपताया अङ्गीकर्तुमशक्यत्वात् । इदमेव सूचयितुमावश्यकतेजोऽभावेनेत्यावश्यकत्वं तेजोविशेषणमुपात्तमित्यलम् ।

ननु 'रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः' इति वैशेषिकसूत्रे सप्तदशैव गुणा उक्ता इह कथं चतुर्विंशतिर्गुणा इत्युक्तमत आह—एते गुणा इति ।

क्रियाकी प्रतीति भी भ्रम ही है । दूसरी बात यह है कि तमको द्रव्य मानने पर अनेक अवयवोंकी कल्पना करनी पड़ेगी जो गौरव होगी । सुवर्णको भी अलग पदार्थ न मानकर तेजमें ही अन्तर्भूत किया जायगा । यह विचार हम तेजोनिरूपण करते समय करेंगे ।

गुणोंका विभाग करते हैं—

(१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) संख्या (६) परिमाण (७) पृथक्त्व (८) संयोग (९) विभाग (१०) परत्व (११) अपरत्व (१२) बुद्धि (१३) सुख (१४) दुःख (१५) इच्छा (१६) द्वेष (१७) यत्न (१८) गुरुत्व (१९) द्रवत्व (२०) स्नेह (२१) संस्कार (२२) धर्म (२३) अधर्म (२४) शब्द ये चौबीस गुण हैं । अदृष्ट पदका अर्थ है धर्म और अधर्म क्योंकि अदृष्टत्व जाति नहीं है ।

महर्षि कणादने इन चौबीस गुणोंमें १७ को शब्दतः तथा शेषको 'प्रयत्नाश्च गुणाः' इस पदके च शब्दसे कहा है । अर्थात् १७ कहने पर भी उनका तात्पर्य २४ गुणोंके बारेमें ही है ।

गुणत्वजातिकी सिद्धिके विषयमें हम आगे गुणनिरूपणमें कहेंगे जैसे :—

द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, इस अनुमानसे गुणत्वजाति सिद्ध होती है ॥ ३-५ ॥

कर्माणि विभजते—

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा ।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च ॥ ६ ॥

उत्क्षेपणमिति । कर्मत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा । एवमुत्क्षेपणत्वादिकमपि ॥ ६ ॥

नन्वत्र भ्रमणादिकमपि पञ्चकर्माधिकतया कुतो नोक्तमत आह—

भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च ।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥ ७ ॥

भ्रमणमित्यादि ॥ ७ ॥

ननु गुणत्वजातौ किं मानमिति चेद् ? उच्यते, द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वादित्यनुमानेन गुणत्वजातिसिद्धिरिति ।

नन्वणुपरिमाणस्य कुत्राप्यकारणतया गुणत्वस्य तत्साधारण्यं न स्यादिति चेद् ? न, गुणपदशक्यताऽवच्छेदकविधया गुणत्वजातिसिद्धेरिति ॥ ३–५ ॥

भ्रमणमितीति । ननु भ्रमणादिष्विवोत्क्षेपणादिष्वपि 'ऊर्ध्वं गच्छति' इति प्रत्ययादुत्क्षेपणादीनामपि गमनेऽन्तर्भावोऽस्त्विति चेद् ? न, प्रकृते उत्क्षेपणादिभिन्नत्वे सत्युत्तरदेशसंयोगानुकूलक्रियात्वस्यैव गमनपदार्थतया तत्रोत्क्षेपणादीनामन्तर्भावस्य कर्तुमशक्यत्वात् । उत्तरदेशसंयोगानुकूलक्रियात्वस्यैव गमनत्वमङ्गीकृत्यान्तर्भावशङ्का तु कर्तुमशक्या, स्वतन्त्रेच्छस्य मुनेर्नियोगपर्यनुयोगानर्हत्वादित्यलम् ॥ ६–७ ॥

कर्मका विभाग करते हैं ।—

(१) उत्क्षेपण = ऊपर फेंकना, (२) अपक्षेपण = नीचे फेंकना, (३) आकुञ्चन = बटोरना; (४) प्रसारण = फैलाना और (५) गमन = चलना, ये पांच कर्म हैं ।

कर्मत्वजाति तो प्रत्यक्षसिद्ध है इसी प्रकार उत्क्षेपणत्वादि जाति भी प्रत्यक्ष सिद्ध है ॥ ६ ॥

कर्म का विभाग करते समय भ्रमण आदि ५ और कर्मों की गणना नहीं की गई । क्योंकि (१) भ्रमण = चक्कर लगाना, (२) रेचन = पिघलना, (३) स्यन्दन = बहना, (४) ऊर्ध्वज्वलन = ऊपर जलना, और (५) तिर्यग्गमन = तिरछा चलना ये पांच कर्म गमन = चलने के भीतर ही हैं अतः इनकी गणना अलग नहीं की गई ॥ ७ ॥

सामान्यं निरूपयति—

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च ।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥ ८ ॥

सामान्यमिति । तल्लक्षणं तु नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम् । अनेकसमवेतत्वं संयोगादीनामप्यस्त्यत उक्तं नित्यत्वे सतीति । नित्यत्वे सति समवेतत्वं गगनपरिमाणादीनामप्यस्त्यत उक्तमनेकेति । नित्यत्वे

'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्' इत्यभियुक्तोक्त्या लक्षणस्य सप्रयोजनत्वादाह—तल्लक्षणं त्विति ।

नित्यत्वसमानाधिकरणानेकनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिताऽऽश्रयत्वं सामान्यत्वमित्यर्थः । समवायादिति समवेत इति व्युत्पत्त्या समवपूर्वकेण्धातोः समवायोऽर्थः, क्तप्रत्ययस्य वृत्तिताऽऽश्रयोऽर्थः, वृत्तितायां समवायस्यावच्छिन्नत्वसम्बन्धेनान्वयः, तत उक्तार्थलाभ इति ध्येयम् ।

ननु विभुद्वयसंयोगाङ्गीकर्तृमते नित्यसंयोगेऽतिव्याप्तिरिति चेद् ? न, विभुद्वयसंयोगस्यानङ्गीकारात् । अन्यथा तुल्ययुक्त्या नित्यविभागस्यापि सिद्धिप्रसङ्गात् ।

केचित्तु—तत्रातिव्याप्तिवारणाय संयोगभिन्नत्वे सतीति देयमिति वदन्ति ।

अपरे तु—एकत्वे सतीतिविशेषणदानान्न तत्र दोषः । अत एव तर्कसंग्रहे नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यमिति लक्षणे एकमिति विशेषणमुपात्तम् । तच्च संयोगे नास्तीति वदन्ति ।

परे तु—अनेकसमवेतत्वमित्यत्रानेकपदं बहुपरं संयोगश्च द्विसमवेत एव न बहुसमवेत इति न दोष इति प्राहुः ।

सामान्य का निरूपण करते हैं :—

सामान्य दो प्रकारका होता है—एक पर और दूसरा अपर, जिनमें द्रव्य, गुण और कर्ममें रहनेके कारण सत्ता जाति पर मानी जाती है ।

सामान्य (जाति) का लक्षण—नित्य हो और अनेक में समवायसम्बन्ध से रहता हो उसे सामान्य कहते हैं । यदि यह लक्षण 'अनेकसमवेतत्व' इतना ही हो तो संयोग में लक्षण अतिव्याप्त होगा क्योंकि संयोग तो एकमें नहीं रहता अनेकोंमें रहता है और गुण होनेके कारण समवायसम्बन्धसे ही रहता है । गुण और गुणी समवायसम्बन्धसे ही रहते हैं । इसलिए 'नित्यत्वे सति' यह भी लक्षणमें जोड़ दिया फिर दोष नहीं रहेगा । क्योंकि संयोग अनित्य है । जो लोग विभुद्वय-संयोगको नित्य मानते हैं वे भ्रममें हैं क्योंकि विभुद्वयसंयोग होता ही नहीं । यदि 'अनेक' पद न रक्खें तो गगनपरिमाण आदिमें लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी क्योंकि गगनपरिमाण नित्य है और समवायसम्बन्धसे रहता है अतः अनेक पद भी लक्षणमें दिया गया । 'नित्यत्वे सति अनेकवृत्तित्वम्' यह लक्षण करने पर

सत्यनेकवृत्तित्वमत्यन्ताभावेऽप्यस्त्यतो वृत्तित्वसामान्यं विहाय समवेतत्वमित्युक्तम्। एकव्यक्तिमात्रवृत्तिस्तु न जातिः। तथा चोक्तम्—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः'॥

ननु निःसामान्यत्वेन सति विशेषान्यत्वे सति समवेतत्वं सामान्यलक्षणं प्राचामभिमतम्। तत्र समवेतघटादावतिव्याप्तिवारणायाद्यं सत्यन्तम्। विशेषेऽतिव्याप्तिवारणाय द्वितीयं सत्यन्तम्। समवायाभावयोरतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यम्। ततश्चाकाशत्वमपि जातिरिति प्रतीयते; नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वलक्षणं तु न तत्र गतमित्यव्याप्तिर्लक्षणस्येति कस्यचिच्छङ्कामपनुदति—एकव्यक्तिमात्रवृत्तिरित्यादिना। जातिसाधिकाया अनेकव्यक्तिष्वनुगतधियोऽभावादाकाशत्वं न जातिरिति नाव्याप्तिरिति भावः।

अमुमर्थं प्रमाणयति-व्यक्तेरभेद इत्यादिना। व्यक्तेरित्यत्र निष्ठत्वं षष्ठ्यर्थः, तथा च स्वाश्रयीभूतव्यक्तिनिष्ठो भेदभावः स्वस्य जातित्वे बाधकः। स्वमाकाशत्वं तदाश्रयीभूता व्यक्तिराकाशरूपा तत्राकाशभेदः 'आकाशं न' इति प्रतीतिसाक्षिको न वर्तते इति भेदाभावसत्वादाकाशत्वं न जातिः।

न चाकाशे आकाशभेदस्याऽसत्त्वेऽपि घटभेदस्य 'आकाशं घटो न' इति प्रतीतिसाक्षिकस्य सत्त्वेन भेदसामान्याभावस्यासत्वादाकाशत्वं जातिः स्यादेवेति वाच्यम्, भेदः स्वाश्रयीभूतव्यक्तिप्रतियोगिको ग्राह्यः। तथा च स्वाश्रयीभूतव्यक्तिनिष्ठः स्वाश्रयीभूतव्यक्तिप्रतियोगिकभेदाभावः स्वस्य जातित्वे बाधक इत्यर्थलाभेनाकाशे आकाशभेदाभावस्य सत्वेन आकाशत्वे जातित्वबाध इत्यदोषात्।

तुल्यत्वं तुल्यव्यक्तिवृत्तित्वं घटत्वकलशत्वादिजातीनां भेदे बाधकम्।

अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि नित्य अत्यन्ताभावस्वरूपसम्बन्धसे अनेकमें वृत्ति है। अतः समवायसम्बन्धसे वृत्तिता मानी गई। जो कोई धर्म एक व्यक्तिमें रहता है उसे जाति नहीं मानते। इसीलिए वृद्धोंने कहा है कि,—

व्यक्तिका एक होना, तुल्यता, संकर, अनवस्था, रूपहानि और असम्बन्ध ये दोष जाति के बाधक माने गये हैं। जहाँ वे रहेगें वहाँ जाति नहीं मानी जायगी।

उदाहरण—व्यक्तेरभेदः = इसका अर्थ है कि व्यक्तिनिष्ठ भेदाभाव जातिका बाधक होता है। जैसे 'आकाशव्यक्तिमें 'आकाशं न' यह भेद नहीं रहता अतः आकाशत्व जाति नहीं मानी जाती।

तुल्यत्व = स्वभिन्नजातिसमनियतत्व भी जातिबाधक है। जैसे एक घटत्व-कलशत्व इन दोनों को जाति नहीं माना जायगा। अर्थात् एक घटमें दो जातियाँ नहीं रहेगीं किन्तु

ननु कारिकायां जातिबाधकसंग्रह इत्युक्तं, तुल्यत्वं च जातिभेदबाधकमित्युच्यते, ततश्च कारिकाविरोध इति चेत्? तर्हि तुल्यत्वं स्वभिन्नजातिसमनियतत्वं स्वस्य जातित्वे बाधकम् इत्यर्थकरणान्न विरोधः। एवं कलशत्वं तद्भिन्नजातिघटत्वं तत्सम नियतत्वं कलशत्व इति कलशत्वे जातित्वबाधः। 'अयं घटः अयं घटः' इत्यनुगत धियः 'अयं कलशः अयं कलशः' इत्यनुगतधियश्च घटत्वजातिं कलशत्वजातिं ऽऽ द्वायोपपत्तौ घटत्वकलशत्वयोरुभयोर्जातित्वस्वीकारे मानाभावस्तुल्यत्वस्य जातित्व- बाधकत्वे बीजमिति बोध्यम्।

परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणधर्मयोरेकत्र समावेशः सङ्करः, भूतत्वमूर्तत्व- योर्जातित्वे बाधकः। मूर्तत्वाभाव आकाशे तत्र च भूतत्वं; भूतत्वाभावो मनसि तत्र च मूर्तत्वमुभयोः पृथिव्यादिचतुष्टये समावेश इति साङ्कर्याद् भूतत्वं मूर्तत्वं वा न जातिरिति ध्येयम्। साङ्कर्यस्य जातिबाधकत्वे मानं तु 'जातिविशिष्टजातित्वाव- च्छेदेन स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वाभाव' इति नियमस्य भङ्गप्रसङ्ग एवेति बोध्यम्। वैशिष्ट्यं च स्वसामानाधिकरण्यस्वभावदसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन यदि भूतत्वमूर्तत्वे जाती स्यातां तदा जातिर्भूतत्वजातिस्तदधिकरणपृथिव्यादि- वृत्तित्वस्य तदभावाधिकरणमनोवृत्तित्वस्य च मूर्तत्वजातौ सत्वेन जातिविशिष्टजा तित्वावच्छिन्नं मूर्तत्वं जातमिति मूर्तत्वे एवं भूतत्वं तदधिकरणाकाशनिष्ठमूर्तत्वाभाव प्रतियोगित्वमेव न तु तदभाव इति नियमभङ्गः स्यात्। उक्तोभयसम्बन्धेन 'यज्जाति- विशिष्टजातित्वं यत्र तत्र तज्जातिव्यापकत्वमिति' नियम इति यावत्। इष्टश्चासौ पृथिवीत्वव्यापके द्रव्यत्वादौ, एतादृशनियमभङ्ग एव साङ्कर्यस्य जातित्वबाधकत्वे मानम्। साङ्कर्यस्थले एकमात्रस्य जातित्वेऽपि नैतादृशनियमभङ्ग इति क्रियासम- वायिकारणतावच्छेदकतया सिद्धा मूर्तत्वं जातिरेवेति मन्तव्यम्।

वस्तुतस्तु उक्तनियमे मानाभावे साङ्कर्यस्य जातिबाधकत्वं नव्या न सहन्त इति बोध्यम्।

एक ही जाति रहेगी क्योंकि कलशत्वभिन्नघटत्वजाति कलशत्वजाति जहाँ है वहीं नियतरूप से रहती है।

साङ्कर्य = परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणधर्मयोरेकत्र समावेशः संकरः। अर्थात् जो धर्म एक दूसरेसे मिलकर न रहते हों और कहीं पर एकत्र हों उसे संकर कहते हैं। जैसे भूतत्व और मूर्तत्व। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश में भूतत्व धर्म रहता है और पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मनमें मूर्तत्व धर्म रहता है। मनमें भूतत्वात्यन्ताभाव है और आकाशमें मूर्तत्वात्यन्ताभाव है किन्तु पृथ्वी आदिमें दोनों धर्म हैं। अतः सांकर्य होनेके कारण मूर्तत्व-भूतत्व जाति नहीं मानी जाती।

अप्रामाणिकानन्तपदार्थकल्पनाविश्रान्तेरभावोऽनवस्था जातिवृत्तेर्जातित्वे बाधिका। घटत्वपटत्वादिजातिषु इयं जातिरियं जातिरित्यनुगतप्रतीत्या यदि काचिज्जातिरभ्युपगम्यते तदा तस्यां काचिदन्या तस्यां काचिदन्येत्येवमनवस्था स्यादिति न जातौ जातिरङ्गीकर्तव्येति भावः।

ननु निखिलजातिषु एकस्या जातेरङ्गीकारे तस्यां न जात्यन्तरं, व्यक्तेरैक्या-दित्यनवस्थाया जातिबाधकत्वं विफलमिति चेत्? न, निखिलजातिष्वेका जातिस्त-स्यां तदाश्रयीभूतघटत्वादिजातिषु चैकेत्येवमनवस्थेत्याशयात्।

रूपस्य विशेषलक्षणस्य हानिर्विशेषवृत्तीनां जातित्वे बाधिका। निस्सामान्यत्वे सति सामान्यभिन्नत्वे सति समवेतत्वं हि विशेषत्वम्। यदि विशेषेषु विशेषत्वं जातिः स्यात्तदा विशेषाणां सामान्यरहितत्वाभावेन विशेषलक्षणस्यासम्भवः स्या-दतो विशेषत्वं जातिर्नाभ्युपगम्यत इति भावः।

ननु ग्रन्थकृता निरुक्तं विशेषलक्षणं नोक्तमिति तस्य भङ्गेऽपि न काचित्क्षतिरिति चेत्। तदा रूपस्य स्वतोव्यावर्तकत्वस्य हानिः रूपहानिरित्यर्थो बोध्यः। तथा च जात्याश्रयस्य जातिपुरस्कारेणैव व्यावर्तकत्वनियमात् विशेषत्वजातेरङ्गीकारे विशेष-त्वेनैव रूपेण विशेषाणां व्यावर्तकतया स्वतोव्यावर्तकत्वरूपस्य ग्रन्थकृदुक्तस्य विशेषलक्षणस्य भङ्गापत्तिरिति भावः।

न चोक्तनियमे मानाभाव इति वाच्यम्, नियमानङ्गीकारे परमाणुगतैकत्वानां तत्तद्व्यक्तित्वेनैव परमाण्वन्तरभेदसाधकत्वसम्भवे विशेषपदार्थस्यैवासिद्धि-प्रसङ्गात्।

अनवस्था = अप्रामाणिक अनन्तपदार्थकल्पना, अर्थात् विश्रान्तिका अभाव भी जातिका बाधक है। जैसे घटत्व जाति और पटत्व जाति, 'इयं जातिः, इयं जातिः' इस अनुगत प्रतीतिके आधार पर दोनोंमें किसी एक जातिकी कल्पना करना दूसरी प्रकार उसमें तीसरी और तीसरीमें चौथी जाति की कल्पना करनेसे विश्राम नहीं मिल सकता अतः अनवस्था जातिका बाधक है।

रूपहानिः = रूपस्य विशेषलक्षणस्य हानिः विशेषवृत्तिजातिबाधिका। निःसामान्यत्वे सति सामान्यभिन्नत्वे सति समवेतत्वं विशेषत्वम्। यदि विशेष नामके पदार्थमें विशेषत्व जाति मान ली जाय तब विशेष निःसामान्य नहीं हो सकता जिससे विशेषमें विशेषका लक्षण नहीं घटेगा। अतः विशेषत्वको जाति नहीं मानते।

अथवा रूपहानि पदकी दूसरी व्याख्या मानिए। जैसे रूपस्य स्वतो व्यावर्तकत्वस्य हानिः रूपहानिः। तथा च 'जात्याश्रयकी जाति द्वारा ही व्यावर्तकता है' यह एक नियम है। विशेषत्व जाति माननेपर विशेषमें जो विशेषत्वेन रूपेण व्यावर्तकता है वह नहीं रह जायगी किन्तु जाति द्वारा व्यावर्तक होगा। अतः विशेषके लक्षण बिगड़नेके भयसे विशेषत्व जाति नहीं मानी जाती।

द्रव्यादीति। परत्वमधिकदेशवृत्तित्वम्। अपरत्वमल्पदेशवृत्तित्वम्। सकलजात्यपेक्षयाऽधिकदेशवृत्तित्वात् सत्तायाः परत्वं तदपेक्षया चान्यासां जातीनामपरत्वम् ॥ ८ ॥

प्रतियोगिताऽनुयोगितान्यतरसम्बन्धेन समवायाभावः समवायाभाववृत्तिधर्मयोर्जातित्वे बाधकः। यः समवायेन कुत्रचित्तिष्ठति तत्र प्रतियोगितासम्बन्धेन, यत्र तिष्ठति तत्रानुयोगितासम्बन्धेन समवायो वर्तते। समवायोऽभावो वा न कुत्रचित्समवायेन तिष्ठति न वा समवायाभावयोः कश्चित्समवायेन तिष्ठतीति समवाये अभावे च प्रतियोगिताऽनुयोगितान्यतरसम्बन्धेन समवायाभावो वर्तत इति समवायत्वमभावत्वं वा न जातिरिति भावः।

ननु यदि समवायत्वस्याभावत्वस्य च *जातित्वाङ्गीकारः स्यात्तदा समवायेनैव तौ समवायाभावयोस्तिष्ठत इति अनुयोगितासम्बन्धेन समवायस्य समवायाभावयोस्सत्त्वात्कथं जातिबाध इति चेत्? न, प्रतियोगितानुयोगितान्यतरसम्बन्धेन जात्यतिरिक्तप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवायाभावः समवायाभाववृत्तिधर्मयोर्जातित्वे बाधक इति स्वीकारेणादोषात्। एवं च अनुयोगितासम्बन्धेन रूपे जात्यतिरिक्तप्रतियोगिकसमवायाभावसत्त्वेन व्यभिचारवारणाय प्रतियोगित्वनिवेशः। आत्मनि प्रतियोगितासम्बन्धेन समवायासत्त्वेन व्यभिचारवारणायानुयोगितानिवेश इति बोध्यम्।

न च समवायस्यैकत्वेन तद्वृत्तिसमवायत्वस्य 'व्यक्तेरभेदः'.इत्यनेन जातित्वबाधात् तस्यासम्बन्ध एतदुदाहरणत्वं न सम्भवतीति वाच्यम्, समवायो नानेति नव्यमते 'व्यक्तेरभेदः' इत्यनेन जातित्वबाधासम्भवेन असम्बन्धोदाहरणत्वस्य सौष्ठवात्।

ननु जातौ जात्यतिरिक्तप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवायस्य प्रतियोगितयाऽनुयोगितया चासत्त्वेनासम्बन्ध इत्यनेनैव जातिबाधसम्भवेऽनवस्थाया जातित्वबाधकत्व-

---

*असम्बन्धः = प्रतियोगिताऽनुयोगितान्यतरसम्बन्धेन समवायाभावः समवायाभाववृत्तिधर्मयोर्जातित्वे बाधकः। तात्पर्य यह है कि जो समवायसम्बन्धसे कहीं बैठता है वहाँ प्रतियोगितासम्बन्धसे समवाय रहता है और जहाँ बैठता है वहाँ अनुयोगिता सम्बन्धसे समवाय रहता है। किन्तु समवाय या अभाव कहीं भी समवाय सम्बन्धसे नहीं बैठते और न इनमें ही कोई समवाय से बैठता है। इसलिए समवायका अभावमें प्रतियोगिताऽनुयोगितान्यतरसम्बन्धेन समवायाभाव है। अतः समवायत्व या अभावत्व जाति नहीं है। यदि समवायत्व और अभावत्वको जाति मान लें तब तो वे समवायसम्बन्धसे समवाय और अभावमें रह सकेंगे फिर तो जातिबाध कैसे? सुनिए, 'प्रतियोगिताऽनुयोगितान्यतरसम्बन्धेन जात्यतिरिक्तप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवायाभावः समवायाभाववृत्तिधर्मयोर्जातित्वे बाधकः' यह लक्षण माननेसे दोष नहीं रहेगा।

अधिक देश में रहनेवाली जाति पर जाति और अल्पदेशमें रहने वाली जाति अपर जाति कही जाती हैं। समस्त जातियों की अपेक्षा अधिक देशमें रहनेके कारण सत्ता पर जाति है और उसकी अपेक्षा अन्यजातियाँ अपर जाति हैं ॥ ८ ॥

परभिन्ना च या जातिः सैवापरतयोच्यते ।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ ९ ॥
व्यापकत्वात्पराऽपि स्याद्व्याप्यत्वादपराऽपि च ।

पृथिवीत्वाद्यपेक्षया व्यापकत्वादधिकदेशवृत्तित्वाद् द्रव्यत्वादेः परत्वं, सत्ताऽपेक्षया व्याप्यत्वाद् अल्पदेशवृत्तित्वाच्च द्रव्यत्वस्यापरत्वम् । तथा च धर्मद्वयसमावेशादुभयमविरुद्धम् ।

थनं विफलमिति चेत् ? न जात्यतिरिक्तेत्यत्र जातिपदस्यासमवेतवृत्तिजातिपरतयाऽदोषात् ।

दिनकर्यामनवस्थाऽसम्बन्धरूपहानीनां जातित्वे बाधकत्वमुक्तं, तन्न युक्तम्, सकृदुच्चरितन्यायेन जातिबाधकपदस्य जातित्वजातित्वोभयबाधकपरत्वासम्भवात् । जातिबाधकसंग्रह इत्यत्र भावप्रधाननिर्देशतया जातिपदस्य जातित्वपरत्वमिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

सत्तापेक्षयेति । ननु सत्ताजातिः कथं सिध्यति । न च द्रव्यं सत्, गुणः सन्, कर्म सदित्यनुगतप्रतीत्यैव सत्ता जातिः सिध्यतीति वाच्यम्, तथा सति सामान्यं सत्, विशेषः सन्, समवायः सन्नित्यनुगतप्रतीत्या सामान्यादिसाधारणीभूतस्य कस्यचिद्धर्मस्य सिद्धावपि द्रव्यादित्रिकमात्रवृत्तेः सत्तायाः सिद्ध्यसम्भवात्; इति चेत् ? अत्रोच्यते—यत्र प्रतियोगितासम्बन्धेन ध्वंसोत्पत्तिस्तत्र तादात्म्यसम्बन्धेन सत् इति कार्यकारणभावबलेन ध्वंसत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता सन्निष्ठा या कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वादित्यनुमानेन सत्ताजातिसिद्धिरिति । न च प्रागभावे व्यभिचारः, प्रागभावे सत्ताविरहादिति वाच्यम्, प्रागभाववृत्तिप्रतियोगिताभिन्नप्रतियोगितायाः कार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वाङ्गीकारेणादोषात् ।

पर जातिसे भिन्न जाति अपर जाति कही जाती है किन्तु द्रव्यत्वादि जातियाँ पर और अपर दोनों प्रकारकी हैं । क्योंकि जाति जिसकी अपेक्षा व्यापक है उसकी अपेक्षा पर है और जिसकी अपेक्षा व्याप्य है उसकी अपेक्षा अपर है ।

जैसे पृथिवीत्व आदि जातियोंकी अपेक्षा व्यापक अर्थात् अधिकदेशमें रहनेके हेतु द्रव्यत्वजाति पर है, किन्तु वही द्रव्यत्वजाति सत्ताजातिकी अपेक्षा व्याप्य अर्थात् अल्पदेशमें रहनेके हेतु द्रव्यत्व अपर जाति है । इस प्रकार एकमें दो धर्मोंका रहना कोई दोष नहीं है । क्योंकि एक में भी अनेक की अपेक्षा परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म रह सकते हैं । जैसे एक ही व्यक्ति में पितृत्व, पुत्रत्व, श्यालकत्व, भगिनीपतित्व, पितामहत्वादि विरुद्ध धर्म रहते हैं ॥ ९½ ॥

विशेषं निरूपयति—

अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः ॥ १० ॥

अन्त्य इति। अन्तेऽवसाने वर्तत इत्यन्त्यः, यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः। घटादीनां द्व्यणुकपर्यन्तानां तत्तवयवभेदात्परस्परं भेदः, परमाणूनां परस्परभेदको विशेष एव, स तु स्वत एव व्यावृत्तः, तेन तत्र विशेषान्तरापेक्षा नास्तीति भावः ॥ ९-१० ॥

समवायेन सत्तावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन द्रव्यत्वेन कारणतया जन्यतावच्छेदकतया सत्ताजातिसिद्धिरित्यपि केचित्।

ननु विशेषसद्भावे का युक्तिरिति चेत्? उच्यते—अयं घटः अस्माद्घटाद्भिन्नो भिन्नावयवारब्धत्वात्, अयं घटावयवः अस्माद्घटावयवाद् भिन्नावयवारब्धत्वादित्येवं द्व्यणुकपर्यन्तं भिन्नावयवारब्धत्वरूपहेतुना परस्परं भेदसाधनसम्भवेऽपि परमाणूनां निरवयवत्वेन तेषां परस्परं भेदसाधनाय विशेषोऽभ्युपगम्यते। तथा च अयं परमाणुः अस्मात्परमाणोर्भिन्नो विशेषादित्यनुमानेन परमाणूनां परस्परं भेदः सिध्यति। अन्यथा परमाणूनां परस्परं भेदासिद्धौ द्व्यणुकादीनामपि तदसिद्धया घटादीनामपि भेदासिद्धिप्रसङ्गः। तदाह—घटादीनां द्व्यणुकपर्यन्तानामिति।

ननु विशेषस्य विशेषान्तराद् भेदसाधनाय विशेषान्तरमभ्युपेयमित्यनवस्था स्यादित्यत आह—स तु स्वत एव व्यावृत्त इति।

स्वतो व्यावृत्तत्वं च स्वभिन्नलिङ्गजन्यस्वविशेष्यकस्वसजातीयेतरभेदानुमित्यविषयत्वम्। स्वपदं पक्षत्वेनाभिमतपरम्। तथा च--घटः घटान्तरभिन्नः, भिन्नावयवारब्धत्वात् इत्यनुमितौ स्वं घटस्तद्भिन्नं लिङ्गं भिन्नावयवारब्धत्वरूपं तज्जन्यः स्वं घटस्तद्विशेष्यकं यत् घटसजातीयं घटान्तरम् तत्प्रतियोगिको यो भेदस्तस्य अनुमितिः घटो घटान्तरभिन्न इत्याकारिका तद्विषयत्वं घटे, अविषयत्वं विशेषे इति भवति समन्वयः। स्वभिन्नेत्यनुपादाने विशेषो विशेषान्तरभिन्नः, विशेषादित्यनुमितिविष-

---

विशेषका निरूपण करते हैं—

विशेष नामका वह पदार्थ है जो सबसे अन्तिम है और नित्यद्रव्यमें ही रहता है।

अन्त उसे कहते हैं जो अवसानमें रहे। अर्थात् जिसकी अपेक्षा फिर विशेष न रहे।

जैसे घटसे लेकर द्व्यणुक पर्यन्त तक उन उन अवयवोंके भेदसे परस्पर भेद सिद्ध होता है। अर्थात् 'अयं घटः, अस्माद् भिन्नः, भिन्नावयवारब्धत्वात्, अयं घटावयवः, अस्माद् घटावयवाद् भिन्नः, भिन्नावयवारब्धत्वात्' इस प्रकार भिन्नावयवारब्धत्वरूप हेतुसे 'अयं द्व्यणुकः अस्माद् द्व्यणुकाद्भिन्नः भिन्नावयवारब्धत्वात्' इस प्रकारका भी अनुमानकर द्व्यणुक तकका भेद सिद्ध कर लेते हैं। किन्तु इस हेतुसे दो परमाणुओं का भेद साधना कठिन हो

समवायं दर्शयति—

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः॥ ११॥

घटादीनामिति। अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः। समवायत्वं

यत्वस्य विशेषेऽपि सत्त्वादसम्भवः स्यात्, स्वविशेष्यकेत्यनुपादाने घटो विशेषाद् भिद्यते कपालसमवेतत्वादित्यनुमितिविषयत्वस्य विशेषे सत्त्वे नोक्तदोषतादवस्थ्यम्।

ननु स्वलिङ्गकस्वविशेष्यकस्वसजातीयेतरभेदानुमितिविषयत्वमेव स्वतोव्यावृत्तत्वं वाच्यं, किं गुरुतरारम्भेणेति चेत्? न, घटो घटान्तराद्भिन्नस्तादात्म्येन घटादित्यनुमितिविषयत्वस्य घटेऽपि सत्त्वेनाव्याप्त्यापत्तेः। साजात्यं च पदार्थविभाजकोपाधिरूपेण। अन्यथा विशेषो द्रव्यभिन्नो गुणशून्यत्वादित्यनुमितिविषयत्वस्य विशेषे सत्त्वेनासम्भवः स्यादिति बोध्यम्।

ननु अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिरित्यनेन स्वतोव्यावृत्तत्वे सति नित्यवृत्तित्वं विशेषस्य लक्षणमवगम्यते तत्र नित्यवृत्तित्वदलनिवेशनं व्यर्थमिति चेत्? न, नित्यवृत्तिरित्यस्य विशेषाणां स्थानकथनोपयोगित्वेन लक्षणकुक्षावप्रवेशेनादोषात्।

नव्यास्तु नित्यद्रव्याणामेव स्वतो व्यावृत्तत्वमभ्युपगम्येष्टसिद्ध्या विशेषाङ्गीकारे मानाभाव इति वदन्ति।

विशेषत्वं च नित्यत्वे सति नित्यद्रव्यवृत्तित्वे सति नित्यद्रव्यद्वयावृत्तित्वे सति कर्मावृत्तिजातिशून्यत्वम्। अतः क्रियायां, घटत्वे, आत्मत्वे, गगनपरिमाणे, च अतिव्याप्तिवारणाय क्रमेण दलानि, इत्यन्ये॥ ९-१०॥

घटादीनां कपालादाविति। षष्ठ्यर्थः प्रतियोगित्वं, सप्तम्यर्थोऽनुयोगित्वं, तथा च घटप्रतियोगिकः कपालानुयोगिकः यः सम्बन्धः स समवाय इत्यर्थः।

समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्वमिति। नित्यत्वे सति सम्बन्धत्वं समवायत्वमित्यर्थः।

जाता है क्योंकि उसमें भिन्नावयवारब्धत्वरूप हेतु नहीं है परमाणु तो निरवयव पदार्थ है। अतः परमाणुओंमें भेद साधनेके लिए विशेष पदार्थ मानना पड़ता है जैसे 'अयं परमाणुः अस्मात् परमाणोः भिन्नः विशेषात्' इस प्रकार परमाणुओंका भेद सिद्ध होता है। विशेषका, भेदक कोई पदार्थान्तर या विशेष ही नहीं है क्योंकि वह स्वतः व्यावृत्त है॥ १०॥

समवायका परिचय देते हैं—

घट आदि अवयवियों और कपाल आदि अवयवोंमें, गुण और कर्मका द्रव्यमें और इन सबोंमें जातिका सम्बन्ध समवाय कहा गया है।

अर्थात् अवयव और अवयवी, जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्

नित्यसम्बन्धत्वम् । तत्र प्रमाणं तु गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वाद् दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवद् इत्यनुमानम् । एतेन संयोगादिबाधात्समवायसिद्धिः ।

न च स्वरूपसम्बन्धेन सिद्धसाधनम् । अर्थान्तरं वा ? अनन्तस्वरूपाणां सम्बन्धत्वकल्पने गौरवाल्लाघवादेकसमवायसिद्धेः ।

संयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम् । परमाण्वादावतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यम् । ननु द्रव्यत्वाभावादीनां सम्बन्धः न प्रतियोग्यनुयोग्युभयरूपो, गौरवात्, किन्तु लाघवेन द्रव्यत्वाभावस्वरूप एव, स च नित्य इति द्रव्यत्वाभावरूपसम्बन्धेऽतिव्याप्तिरिति चेत् ? न, सम्बन्धप्रतियोग्यनुयोगिभिन्नत्वे सतीत्यस्यापि निवेशेनादोषात् ।

न च नित्यसंयोगाङ्गीकर्तृमते नित्यसंयोगेऽतिव्याप्तिरिति वाच्यम्, नित्यत्वे सतीत्यनेन नित्यमात्रवृत्तिधर्माश्रयत्वे सतीत्यस्य विवक्षणेनादोषादित्यलम् ॥

ननु विशेषणतासन्निकर्षेण समवायस्य प्रत्यक्षतया तत्र नानुमानापेक्षेति गुणक्रियादीत्यादिनाऽनुमानोपन्यासो व्यर्थ इति चेत् ? न, कालघटसंयोगप्रत्यक्षवारणाय संयोगप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य कारणतेति वादिनो नैयायिकस्य मते समवायस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि सम्बन्धप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य कारणतेति वादिनो वैशेषिकस्य मते समवायस्यैकतया एकदा तदाश्रयीभूतसकलव्यक्तीनां प्रत्यक्षासम्भवेन समवायस्याप्यप्रत्यक्षतया तन्मतानुरोधेनानुमानोपन्यासस्सार्थक्यादिति बोध्यम् ।

संयोगादि बाधादिति । पृथक्सिद्धद्रव्ययोरेव संयोग इति नियमादिति भावः । सिद्धसाधनमिति । वेदान्तिनो हि घटकपालादीनां स्वरूपसम्बन्धमभ्युपगच्छन्ति तेषां सिद्धसाधनम् । नैयायिका घटकपालादीनां समवायमभ्युपगच्छन्ति इति समवायसाधने प्रवृत्तानां तेषां स्वरूपसम्बन्धसिद्धयाऽर्थान्तरमिति भावः ।

अनन्तस्वरूपाणामिति । ननु समवायनानात्ववादिनां नव्यानां मते अनन्तसम-

---

नित्यद्रव्य और विशेष इनका जो सम्बन्ध है वह समवाय है । नित्यसम्बन्धको समवाय कहते हैं । इसमें प्रमाण अनुमान है जैसे 'दण्डी पुरुषः' यह विशिष्ट ज्ञान है क्योंकि 'दण्डः अस्ति अस्य इति दण्डी' इस व्याख्यासे दण्ड और दण्डवालेका ज्ञान होता है । अतः यह विशिष्ट ज्ञान है । विशिष्टज्ञान विशेषण और विशेष्यके सम्बन्धको बतलाता है । इसलिए गुण और क्रियाकी विशिष्ट बुद्धि भी विशेषणविशेष्यके सम्बन्धविषयक है क्योंकि विशिष्ट बुद्धि है–'दण्डी पुरुषः' इस बुद्धिकी तरह । इस अनुमानसे संयोग आदिकी सिद्धि नहीं हो सकती अतः समवाय की सिद्धि मानी गई ।

वेदान्ती लोग घट और कपालके सम्बन्धको स्वरूप कहते हैं उसमें समवाय की सिद्धि करना सिद्धसाधन होगा । नैयायिक लोग घट-कपालके सम्बन्धको समवाय मानते हैं । किन्तु

न च समवायस्यैकत्वे वायौ रूपवत्ताबुद्धिप्रसङ्गः,
तत्र रूपसमवायसत्त्वेऽपि रूपाभावात्।
न चैवमभावस्य वैशिष्ट्यं सम्बन्धान्तरं सिध्येदिति वाच्यम्,

वायानां तेषां सम्बन्धत्वस्य च कल्पने गौरवादुक्तानुमानेन क्लृप्तानन्तस्वरूपाणां सम्बन्धत्वाङ्गीकरणमेवोचितमिति चेत्? न, समवायसम्बन्धेन पटत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन तन्तुत्वेन हेतुतया कार्यतावच्छेदकसम्बन्धविधया समवायसिद्धेः।

न च समवायस्थाने स्वरूपं निवेश्यतामिति न तेनापि समवायसिद्धिरिति वाच्यम्, यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणमिति समवायिकारणत्वव्यवस्थाभङ्गापत्तेः।

न च तत्रापि यत्सम्बद्धं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणमित्येव लक्षणं क्रियतामिति वाच्यम्, कपालसम्बद्धघटध्वंसं प्रति कपालस्य समवायिकारणत्वापत्तेः ततश्च कपालनाशे घटध्वंसस्यापि ध्वंसापत्तेरिति दिक्।

ननु समवायस्यैकत्वे वायौ स्पर्शसमवायस्य सत्त्वेन स्पर्शसमवाय-रूपसमवाययोरैक्येन 'सम्बन्धसत्ता सम्बन्धिसत्तायां नियामिका भवति' इति नियमाद् रूपवान् वायुरिति प्रतीतिः स्यादिति चेत्? न, रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवायस्यैव रूपसम्बन्धतया रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवायस्य वायावभावेन रूपवान् वायुरिति प्रतीत्यभावात्।

न च 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते' इति न्यायाद् वायौ समवायस्य सत्त्वेन विशिष्टसमवायोऽप्यस्तीति तद्दोषतादवस्थ्यमिति वाच्यम्, सत्ताया विशिष्टसत्तायाश्चैक्येऽपि सत्तात्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणताया विशिष्टसत्तात्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणतायाश्च भिन्नत्ववत् समवायविशिष्टसमवाययोरैक्येऽपि समवायत्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणताया रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्टसम-

---

स्वरूपसम्बन्ध सिद्ध होनेके बाद यह दूसरी सिद्धि अर्थान्तर (पर्याय) ही होगी अतः समवायकी सिद्धि नहीं हो सकती, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अनन्त स्वरूपसम्बन्ध कल्पनाकी अपेक्षा एक समवायसम्बन्ध मान लेनेमें लाघव है अतः समवायसम्बन्ध मानना चाहिए। स्पर्शसमवाय, रूपसमवाय आदि समवायोंके एक होनेपर भी 'स्पर्शवान् वायुः' इस ज्ञानकी तरह 'रूपवान् वायुः' यह ज्ञान नहीं होता। क्योंकि रूपसमवायके रहनेपर भी वायुमें रूप नहीं हैं। रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्ट समवायको ही रूपसम्बन्ध माना गया है।

अस्तु, जब अनन्त स्वरूपसम्बन्ध माननेके भयसे एक समवाय माना गया तब अभावमें भी अनन्त स्वरूपके भयसे वैशिष्ट्य नामका एक सम्बन्ध क्यों नहीं मान लिया जाता। ठीक है। किन्तु यह वैशिष्ट्य नित्य है अथवा अनित्य। यदि नित्य मानते हैं तब घट ले आनेके

तस्य नित्यत्वे भूतले घटानयनानन्तरमपि घटाभावबुद्धिप्रसङ्गाद्, घटाभावस्य तत्र सत्त्वात्, तस्य च नित्यत्वात्। अन्यथा देशान्तरेऽपि तत्प्रतीतिर्न स्याद् वैशिष्ट्यस्य च तत्र सत्त्वात्। मम तु घटे पाकरक्त-

---

वायत्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणतायाश्च भिन्नत्वाङ्गीकारेण रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवायत्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणताया एव रूपसम्बन्धत्वाङ्गीकारेण वायौ तस्या अभावाद् वायू रूपवानिति प्रतीत्यभावात्।

नव्यास्तु पृथिव्यां गन्धस्य समवायो न जले इति प्रतीत्या समवायो नानेति वदन्ति।

ननु रूपविशिष्टो घट इति प्रतीत्या यथा सम्बन्धविधया समवायः सिध्यति, तथा घटाभावविशिष्टं भूतलमिति प्रतीत्याऽभावस्यापि वैशिष्ट्यनामकं सम्बन्धान्तरं सिध्येदिति चेद्? न, वैशिष्टस्यानित्यत्वेऽनन्तवैशिष्ट्यानां तेषां सम्बन्धत्वस्य च कल्पनाऽपेक्षया क्लृप्तानन्तस्वरूपाणां सम्बन्धत्वकल्पनेन लाघवादुक्तप्रतीत्या वैशिष्ट्यसिद्ध्यसम्भवात्। मम तु रूपविशिष्टो घट इति प्रतीत्या सिध्यन् समवायो नित्य एकश्चेति। अनन्तस्वरूपेषु सम्बन्धत्वकल्पनापेक्षया अतिरिक्त एकस्मिन्नेव सम्बन्धत्वकल्पनेन लाघवात्समवायः सिध्यति।

ननु मयाऽपि वैशिष्ट्यनित्यत्वमङ्गीक्रियत इति न गौरवमिति चेद्? न, घटाभाववति भूतले घटानयनानन्तरमपि घटाभाववैशिष्ट्ययोरुभयोरपि नित्यतया सम्बन्धसम्बन्धिनोस्सत्त्वेन घटाभाववद् भूतलमिति बुद्धेः प्रमात्वप्रसङ्गात्।

न च तवापि घटे रक्तरूपोत्पादेऽपि श्यामो घटः इति प्रतीतिः कस्मान्न भवति श्यामरूपसमवायस्य नित्यतया तत्र सत्त्वादिति वाच्यम्, श्यामरूपस्य नष्टतया तत्र श्यामो घट इति प्रतीत्यभावात्। न च मयाऽपि वैशिष्ट्यनित्यत्वस्याङ्गीकारेऽपि घटात्यन्ताभावानित्यत्वस्याङ्गीकारेण घटाभाववति भूतले घटानयनानन्तरं घटाभावस्य नष्टत्वान्न घटाभाववत्ताबुद्धेः प्रमात्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, घटाभावस्यानित्यत्वे 'अवच्छेदकभेदात्प्रतियोगिता भिद्यते, प्रतियोगिताभेदाच्चाभावो भिद्यते' इति नियमेन एतद्देशीयघटाभावनाशे घटशून्यदेशीयघटाभावस्यापि नष्टत्वात्तत्रापि घटाभाववत्त्वबुद्धेरप्रमात्वापातात्।

न च स्वरूपसम्बन्धवादिनस्तवापि स्वौ प्रतियोग्यनुयोगिनौ रूपं यस्य तत् स्वरूपमिति व्युत्पत्त्या प्रतियोग्यनुयोगिरूप एव सम्बन्धः फलति, तथाच घटाभाव-

---

बाद भी 'अत्र घटाभावः' यह ज्ञान होता रहेगा। क्योंकि घटाभाव नित्य है जो सदा उस भूतल में बना है। यदि अनित्य मानते हैं तब घटशून्य भूतलमें भी घटाभावकी प्रतीति नहीं होगी और अनन्त वैशिष्ट्यकल्पना करनेमें तुम्हें ही गौरव होगा। समवाय-

तादृशायां श्यामरूपस्य नष्टत्वान्न तद्वत्ताबुद्धिः। वैशिष्ट्यस्यानित्यत्वेत्वनन्तवैशिष्ट्यकल्पने तवैव गौरवम्। इत्थंच तत्तत्कालीनं तत्तद्भूतलादिकं तत्तदभावानां सम्बन्धः॥ ११॥

अभावं विभजते—

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च॥ १२॥
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते।

अभावस्त्विति। अभावत्वं द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्त्वम्। संसर्गेति। संसर्गाभावान्योन्याभावभेदादित्यर्थः। अन्योन्याभावस्यैकविधत्वात्तद्विभागाभावात्संसर्गाभावं विभजते-प्रागभाव इति। संसर्गा-

---

वति भूतले घटनयनानन्तरमपि नित्यतया घटभावरूपप्रतियोगिनो भूतलरूपानुयोगिनश्च सत्त्वेन तदुभयात्मकस्वरूपसम्बन्धस्यापि सत्त्वात् घटाभाववद् भूतलमिति प्रतीतिः स्यादेव,—इति वाच्यम्, घटाभाववद् भूतलमिति प्रमात्मकज्ञानकालीनतत्तद्भूतलादेरेव तत्तदभावसम्बन्धताङ्गीकारेण तत्कालीनतद्भूतलरूपस्वरूपसम्बन्धाभावेनादोषादित्यलम्॥ ११॥

नन्वभावत्वं द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्त्वमिदं लक्षणं द्रव्यादावतिव्याप्तं, घटः घटपटोभयं नेति भेदस्य घटे सत्त्ववद् द्रव्यं द्रव्यादिषट्कं नेति प्रतीतिसाक्षिकषट्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य द्रव्येऽपि सत्त्वादिति चेत्? न, संख्यारूपषट्त्वस्य पर्याप्तिसम्बन्धेन द्रव्यादिषु प्रत्येकमसत्त्वेनोक्तापत्तिसम्भवेऽपि अपेक्षाबुद्धिरूपषट्त्वस्य प्रकृते विषयतयाऽवच्छेदकत्वाङ्गीकारेण द्रव्यादिषु प्रत्येकं तस्य विषयतया

वादीके मतमें तो श्यामघट पककर जब लाल हो गया तब श्यामरूप नष्ट होगा और श्याम समवाय वहाँ बना रहेगा किन्तु 'श्यामो घटः' यह ज्ञान नहीं होगा। इसलिए तत्तत्कालीन, तत्तत् भूतल और तत्तत् अभावका सम्बन्ध होता है॥ ११॥

अभावका विभाग करते हैं—

अभाव दो प्रकार का होता है—एक संसर्गाभाव और दूसरा अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव तीन प्रकारका है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। अन्योन्याभाव एक प्रकारका ही होता है।

अभावत्व है, छ द्रव्योंका अन्योन्याभावत्व। जैसे 'द्रव्यं गुणो न' इत्यादि मूलकारिकामें अभावपदका संसर्गके साथ भी सम्बन्ध है। इसलिए मुक्तावलीमें लिखा है कि संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव इत्यर्थः। अन्योन्याभाव एक ही प्रकार का है अतः उसका विभाग नहीं

भावत्वम् अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वम्। अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावत्वम्। विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम्। जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम्। नित्यसंसर्गाभावत्वम् अत्यन्ताभावत्वम्।

यत्र तु भूतलादौ घटादिकमपसारितं पुनरानीतं च तत्र घटकालस्य सम्बन्धाघटकतयाऽत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिः। तत्रोत्पादविनाशशाली चतुर्थोऽयमभाव इति केचित्।

सत्त्वेन द्रव्यं द्रव्यादिषट्कं नेति भेदस्य वक्तुमशक्यत्वेनोक्तापत्त्यभावात्। यदि तु 'द्रव्यं न' 'गुणो न' इत्यादीनां द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताभेदानां षण्णां ग्रहणं लक्षणेऽभिमतं तदा न कोऽपि दोषः, परं त्वननुगमापत्तिरिति बोध्यम्।

नन्वभावत्वं द्रव्यादिषट्कान्योन्याभावत्वम्, अन्योन्याभावत्वं च तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्, इत्यभावत्वज्ञानेऽन्योन्याभावत्वज्ञानस्य अन्योन्याभावत्वज्ञानेऽभावत्वज्ञानस्य चापेक्षणात् 'स्वज्ञप्त्यधीनज्ञप्तिकत्व'रूपान्योन्याश्रयापत्तिः।

न च विशेषणतासन्निकर्षजन्यप्रत्यक्षविषयत्वमभावत्वमिति स्वीकारेण नान्योन्याश्रय इति वाच्यम्, नैयायिकमते समवायस्यापि विशेषणतासन्निकर्षजन्यप्रत्यक्षविषयतया तत्रातिव्याप्तिवारणाय समवायभिन्नत्वे सतीत्यस्य निरुक्तभावत्वलक्षणे निवेशनीयतयाऽस्यापि लक्षणस्यान्योन्याभावत्वघटिततयोक्तदोषतादवस्थ्यात्। एतेन भावभिन्नत्वमभावत्वमित्यपि परास्तम्। अभावत्वस्य भावभिन्नत्वरूपत्वास्वीकारे उद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्येन अभावो न भाव इति वाक्याच्छाब्दबोधानुपपत्तेश्च।

न चासमस्तनञ्पदजन्यप्रतीतिविषयत्वमभावत्वमिति स्वीकरणीयम्, 'अनुद्धरा

किया गया। संसर्गाभाव का विभाग करते हैं—प्रागभाव इत्यादि। संसर्गाभावत्व है अन्योन्याभावसे भिन्न अभावत्व। अन्योन्याभावका लक्षण है कि—तादात्म्य (ऐक्य) सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक जो अभाव वही अन्योन्याभाव है। जैसे 'घटः पटो न'। प्रागभावका लक्षण—विनाशी अभावको प्रागभाव कहते हैं। ध्वंसका लक्षण—जो अभाव उत्पन्न होता हो उसे ध्वंस कहते हैं। नित्यसंसर्गाभावको अत्यन्ताभाव कहते हैं।

जहाँ भूतलसे घट हटा लिया गया और कुछ देरके बाद पुनः लाया गया वहाँ घटके हटाने और लानेके बीचके कालमें जो अत्यन्ताभाव उसके नित्य रहनेपर भी घटकी स्थितिकालमें 'घटाभाव' यह ज्ञान नहीं होता है ? क्योंकि अभावके लक्षणमें घटकालका सम्बन्ध नहीं है। कुछ लोगोंने इस प्रश्नके उत्तरमें एक उत्पन्न और विनष्ट होनेवाला चौथा अभाव ही मान लिया है।

अत्र ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणेनात्यन्ताभाव इति प्राचीनमतम् । श्यामघटे रक्तो नास्तीति रक्तघटे श्यामो नास्तीति धीश्च प्रागभावं ध्वंसं चावगाहते न तु तदत्यन्ताभावं तयोर्विरोधात् ।

कन्या, इत्यादौ नञ्पदजन्यप्रतीतिविषयेऽल्पत्वादादतिव्याप्तिवारणायासमस्तेति; ततश्च नोक्तदोष इति वाच्यम्, 'श्यामघटे रक्तो नास्ति, रक्तघटे श्यामो नास्तीति' धीश्च प्रागभावं ध्वंसं चावगाहत इतिवादिनो मते प्रागभावध्वंसयोर्लक्षणसमन्वयेऽपि उक्तप्रतीतिरत्यन्ताभावमवगाहते, न ध्वंसं न वा प्रागभावमितिवादिनः 'ध्वस्तः' इति 'भविष्यति' इतिप्रतीतिविषयत्वमेव तयोरित्युपगच्छतो मते ध्वंसप्रागभावयोरव्याप्तितादवस्थ्यात्, नास्त्युदरं यस्याः इति विग्रहे असमस्तनञ्पदजन्यप्रतीतिविषयत्वस्याल्पत्वे सत्त्वेनातिव्याप्तेश्च;—इति चेत् ? न, अभावत्वस्याखण्डोपाधित्वस्वीकारेणान्योन्याश्रयाभावादित्यलम् ॥

नन्वन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वं, तादात्म्यं च स्वप्रतियोगिवृत्तित्व —स्वानुयोगिवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन भेदविशिष्टान्यत्वं, ततश्च तादात्म्यलक्षणे भेदस्य भेदलक्षणे तादात्म्यस्य च प्रविष्टतयाऽन्योन्याश्रयप्रसङ्ग इति चेत् ? न, भेदत्वस्याखण्डोपाधिताङ्गीकारेणादोषात् ।

ननु प्रागभावसत्त्वे किं मानमिति चेत् ? उच्यते, उत्पन्नेऽपि घटे, तदीयकारणानां कपालसंयोगदण्डादीनां सद्भावेन पुनरुत्पादभिया तत्स्वीकारात् । ततश्च घटोत्पत्तिं प्रति प्रागभावस्यापि हेतुतया तस्यैव तदानीमभावेन न पुनर्घटोत्पाद इति 'अयं घटः' स्वोत्पत्तिक्षणावृत्तिकारणजन्यः स्वोत्पत्तिद्वितीयक्षणानुत्पन्नत्वात्' इत्यनुमानेन प्रागभावसिद्धिः तस्य कार्यसामग्रीनाश्यत्वेन उत्पत्तिक्षणावृत्तित्वादिति केचित् ।

वस्तुतस्तु जन्यद्रव्यं प्रति समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकद्रव्याभावस्य कारणाऽभ्युपगमेनोक्तदोषवारणसम्भवे प्रागभावस्य घटं प्रति हेतुताङ्गीकारे मानाभाव इति । 'घटो ध्वस्तः' इति प्रत्यक्षबलेन ध्वंसस्य सिद्धावपि प्रागभावस्य सिद्धौ मानाभावः, 'घटो भविष्यती'त्यत्र भविष्यत्वं वर्तमानकालध्वंसाधिकरणकालोत्पत्तिकत्वरूपं न तु वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वरूपमिति न भविष्यतीतिप्रतीत्याऽपि प्रागभावसिद्धिप्रत्याशेत्यन्यत्र विस्तरः ।

तयोर्विरोधादिति । अत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिना सह विरोधित्ववत् स्वप्रतियोगि-

---

प्राचीन आचार्योंका मत है कि ध्वंस और प्रागभावके अधिकरणमें अत्यन्ताभाव नहीं रहता । 'श्यामघटमें रक्तरूप नहीं है' और 'रक्तघटमें श्यामरूप नहीं है' इस ज्ञानके होनेपर भी यह नहीं समझना चाहिये कि श्यामघटमें रक्तरूपका अत्यन्ताभाव और रक्तघटमें श्यामरूपका अत्यन्ताभाव रहता है किन्तु यह समझना चाहिये कि 'श्यामघटमें रक्तरूपका प्रागभाव है' और रक्तघटमें श्यामरूपका ध्वंस है'।

नव्यास्तु तत्र विरोधे मानाभावाद् ध्वंसादिकालावच्छेदेनाप्यत्यन्ताभावो वर्त्तत इति प्राहुः।

नन्वस्तु अभावानामधिकरणात्मकत्वं लाघवादिति चेद् ?

न, अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्तकल्पनाया एव

ध्वंसप्रागभावाभ्यामपि विरोधित्वमित्यभिमानः।

मानाभावादिति। अत एवान्तरा (१) श्यामे रक्तं रूपं नास्तीति प्रत्ययः।

न चैष रक्तिमध्वंसप्रागभावाद्यवगाही पूर्वापररक्तिमध्वंसप्रागभाववति सम्प्रति रक्तेऽपि तथा प्रत्ययप्रसङ्गात्। मम तु रक्तं रूपं नास्तीति प्रत्ययोऽत्यन्ताभावमवगाहते, न तु ध्वंसं न वा प्रागभावं, तयोः सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वविरहात्॥

नन्वभावस्याधिकरणात्मकत्वमेवास्तु किमतिरिक्तपदार्थत्वकल्पनया ?

न चानन्ताधिकरणेषु अभावत्वकल्पनाऽपेक्षया अतिरिक्तत्वकल्पनायामेव लाघवम्, अन्यथाऽभेदे आधाराधेयभावानुपपत्त्या घटाभाववद् भूतलमिति प्रतीतिर्न स्यादिति वाच्यम्, अतिरिक्तानन्ताभावेष्वभावत्वकल्पनाऽपेक्षया क्लृप्तानन्ताधिक-

---

नवीन आचार्योंका मत है कि ध्वंस और प्रागभावके अधिकरणमें भी अत्यन्ताभावके रहनेमें कोई आपत्ति नहीं है और न तो कोई प्रमाण ही है। इस लिए 'जिस समय जिस अधिकरणमें ध्वंस रहता है उसी कालमें उसी अधिकरणमें अत्यन्ताभाव भी रहता है, इसी प्रकार 'जिस कालमें जिस अधिकरणमें प्रागभाव रहता है उसी कालमें उसी अधिकरणमें अत्यन्ताभाव भी रहता है।' जो घट 'पहले रक्त फिर श्याम फिर रक्त फिर श्याम एवं फिर रक्त हो गया।, इस घटमें जब श्याम था तब 'श्यामघटमें रक्तरूप नहीं है' यह ज्ञान होता है। यह ज्ञान रक्तिमध्वंसके प्रागभावको नहीं कहता। क्योंकि आगे पीछे दोनों ओर रक्तिमध्वंसप्रागभाववाले रक्त घटमें भी 'रक्तरूप नहीं है' यह ज्ञान होने लगेगा। इस लिए 'रक्तरूप नहीं है' यह ज्ञान अत्यन्ताभावको ही कहता है, ध्वंस और प्रागभावको नहीं।

प्राचीन लोगोंने 'जैसे अत्यन्ताभाव अपने प्रतियोगीका विरोधी हैं वैसे अपने प्रतियोगीके ध्वंस और प्रागभावका भी विरोधी है' यह समझकर वैसा माना है किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि ऊपर कहे गए मध्यश्याम स्थलमें 'रक्तरूप नहीं है' यह ज्ञान ध्वंस आदिको नहीं कहता किन्तु अत्यन्ताभावको कहता है। क्योंकि ध्वंस और प्रागभावमें 'सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व' नहीं है। अत्यन्ताभाव इस लिए है कि उसके लक्षणमे उन-उन कालोंका भी निवेश है।

मीमांसकोंने अभावको अधिकरणरूप माना है। इसमें लाघव भी है अतः अभावको

---

(१) पूर्वं रक्तस्ततः श्यामस्ततो रक्तस्ततः श्यामस्ततो रक्तो यो घटस्तस्मिन्नित्यर्थः।

लघीयस्त्वात्। एवं च आधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते। एवं च तत्तच्छब्दगन्धरसाद्यभावानां प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते। अन्यथा तत्तदधिकरणानां तत्तदिन्द्रियाग्राह्यत्वादप्रत्यक्षत्वं स्यात्। एतेन ज्ञानविशेषकालविशेषाद्यात्मकत्वमभावस्येति प्रत्युक्तमप्रत्यक्षत्वापत्तेः ॥ १२ ॥

रणेष्वभावत्वकल्पने एव लाघवात् अभावाधिकरणकाभावस्याधिकरणस्वरूपत्वेऽप्याधाराधेयभावोपपत्तिवद्घटाभाववद्भूतलमित्यस्योपपत्तेश्च।

न चाभावस्याधिकरणात्मके वायोर्घ्राणेन्द्रियाग्राह्यतया तद्रूपगन्धाभावस्यापि घ्राणेन्द्रियाग्राह्यत्वं त्वगिन्द्रियग्राह्यत्वं च स्यातां, ततश्च 'येनेन्द्रियेण या व्यक्तिर्गृह्यते तद्गता जातिस्तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते' इति नियमभङ्गः स्याद्गन्धस्य घ्राणेन्द्रियग्राह्यत्वेऽपि गन्धाभावस्य त्वगिन्द्रियग्राह्यत्वादिति वाच्यम्, पृथिवीनिष्ठयोर्गन्धपृथिवीत्वयोरेकस्य घ्राणग्राह्यत्वमपरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वमिव वायुनिष्ठयोर्गन्धाभावत्ववायुत्वयोरेकस्य घ्राणग्राह्यत्वपमरस्य त्वग्ग्राह्यत्वमिति स्वीकारेण क्षत्यभावात्। न चायमस्ति नियमः 'एकधर्मिनिष्ठानां यावतां धर्माणामेकस्य धर्मस्य येनेन्द्रियेण ग्रहणं तेनैव सर्वेषाम्' इति।

न च धर्मिणोऽप्रत्यक्षत्वे धर्मस्याप्यप्रत्यक्षतयाऽऽकाशनिष्ठगन्धाभावत्वादेः प्रत्यक्षत्वं न स्यादिति वाच्यम्, आकाशस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि तद्धर्मस्य शब्दस्य प्रत्यक्षत्ववद्गन्धाभावत्वादेरपि प्रत्यक्षत्वसम्भवादिति चेत्?

न, तथा सति पृथिवी गन्धवत्तया घ्राणग्राह्या न चक्षुर्ग्राह्येतिवद् वायुर्गन्धाभाव-

अधिकरणरूप मान लेना चाहिए। नहीं, अभावोंको अधिकरणरूप माननेसे अनन्त अभावोंका अनन्त अधिकरण मानना पड़ेगा। अतः एक अभाव पदार्थ माननेमें ही लाघव है। दूसरी बात यह है कि अलग पदार्थ मान लेनेसे आधाराधेयभाव भी बनता है और 'घटाभाववद् भूतलम्' यह प्रतीति प्रामाणिक मानी जाती है। अन्यथा अभाव और अधिकरणके अभेद होने से आधाराधेयभाव नहीं बन सकता। क्योंकि एक व्यक्ति आधेय और अधिकरण दोनों नहीं हो सकता है। तीसरा लाभ यह है कि तत्तत् शब्द, गन्ध और रसके अभावका प्रत्यक्ष भी ठीक होता है। अन्यथा अभावको अधिकरणरूप मान लेनेसे शब्दाभावका अधिकरण पृथ्वी, गन्धाभावका अधिकरण जल एवं रसाभावका अधिकरण तेज है। किन्तु घ्राणेन्द्रियसे शब्दाभावका, रसनेन्द्रियसे गन्धाभाव आदिका ग्रहण नहीं होता। अतः शब्द, गन्ध और रस आदिके अभावोंका प्रत्यक्ष नहीं होगा। क्योंकि 'जिस इन्द्रियसे जो वस्तु गृहीत होती है उसमें रहनेवाली जाति और उसका अभाव भी उसी इन्द्रियसे गृहीत होता है' यह नियम है। अतः अभाव नामका अलग पदार्थ ही मानना चाहिए।

जो लोग अत्यन्ताभावको 'ज्ञानविशेष अथवा कालविशेष रूप' मानते हैं उनका भी

इदानीं पदार्थानां साधर्म्यं वैधर्म्यं च वक्तुं प्रक्रमते—

सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते ॥ १३ ॥

सप्तानामिति । समानो धर्मो येषां ते सधर्माणः तेषां भावः साधर्म्यं, समानो धर्म इति फलितार्थः । एवं विरुद्धो धर्मो येषां ते विधर्माणः, येषां भावो वैधर्म्यं, विरुद्धो धर्म इति फलितार्थः । ज्ञेयत्वं ज्ञानविषयता सा च सर्वत्रैवास्ति, ईश्वरादिज्ञानविषयतायाः केवलान्वयित्वात् । एवमभिधेयत्वप्रमेयत्वादिकं बोध्यम् ॥ १३ ॥

त्वेन घ्राणग्राह्य इति प्रतीतिप्रसङ्गादित्यलम् ॥ १२ ॥

केवलान्वयित्वादिति । वृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम् ॥ १३ ॥

षण्णां साधर्म्यं तु भावत्वं स्फुटतया नोक्तम् ।

ननु किमिदं भावत्वमिति चेत् ? उच्यते, समवायैकार्थसमवायान्यतरसम्बन्धेन सत्तावत्त्वं भावत्वमिति । सत्ता हि द्रव्यगुणकर्मसु समवायेन तिष्ठति, सामान्यविशेषसमवायेषु एकार्थसमवायेन तिष्ठति । एकार्थसमवायो नाम एकस्मिन्नर्थे उभयोः समवायः । यथा घटे घटत्वं समवायेन तिष्ठति तथा सत्ताऽपीति एकार्थसमवायसम्बन्धेन सत्तावत्त्वं घटत्वसामान्यस्य, एवं विशेषः परमाणौ समवायेन तत्रैव सत्ताऽपीति एकार्थसमवायसम्बन्धेन सत्तावत्त्वं विशेषस्य, एवं कपाले समवायेन समवायस्तत्रैव सत्ताऽपीति एकार्थसमवायेन सत्तावत्त्वं समवायस्येति भवति समन्वयः ।

न च कपाले स्वरूपेण समवायस्तिष्ठतीति कथमेकार्थसमवायेन सत्तावत्त्वं समवायस्येति वाच्यम्, समवायस्य स्वरूपाख्यः सम्बन्धो लाघवेन समवायरूप एवा-

---

मत ठीक नहीं है । क्योंकि अत्यन्ताभावका प्रत्यक्ष ही नहीं सिद्ध कर सकते ॥ १२ ॥

अब पदार्थोंका साधर्म्य (समानता) और वैधर्म्य (असमानता) बतानेका उपक्रम करते हैं ।

सातों पदार्थोंमें ज्ञेयत्व, वाच्यत्व और प्रमेयत्वरूप साधर्म्य (समानता) है ॥ १३ ॥

जिनका धर्म समान हो वे सधर्मा कहे जाते हैं । उनका भाव साधर्म्य अर्थात् समानधर्म कहा जाता है । इसी प्रकार विरुद्धधर्म जिनके हैं वे विधर्मा कहे जाते हैं । उनका भाव वैधर्म्य अर्थात् विरुद्धधर्म कहा जाता है । ज्ञानविषयताको ज्ञेयत्व कहते हैं वह सर्वत्र है, क्योंकि ईश्वरीयज्ञानविषयता केवलान्वयी (सर्वत्र) है । इसी तरह अभिधेयत्व प्रमेयत्व भी समझना चाहिए । 'जो अत्यन्ताभावका प्रतियोगी न हो उसे केवलान्वयी कहते हैं ।' ज्ञेयत्वाभावका कोई अधिकरण नहीं है । यतः ज्ञेयत्वाभाव अप्रसिद्ध है अतः ज्ञेयत्व धर्म केवलान्वयी है ॥ १३ ॥

द्रव्यादयः पञ्च भावा अनेके समवायिनः ।
सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या गुणादिर्निर्गुणक्रियः ॥ १४ ॥

द्रव्यादय इति । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां साधर्म्यमनेकत्वं समवायित्वं च । यद्यप्यनेकत्वमभावेऽप्यस्ति तथाप्यनेकत्वे सति भावत्वं पञ्चानां साधर्म्यम् । तथा चानेकभाववृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थः । तेन प्रत्येकं घटादावाकाशादौ च नाव्याप्तिः।

ङ्गीक्रियते न प्रतियोग्यनुयोग्युभयरूप इति कपाले स्वरूपेण समवायस्तिष्ठतीत्यस्य समवायेन तिष्ठतीत्यर्थ एव पर्यवसानेनादोषात् ।

अनेकभाववृत्तीति । अनेकेत्यनुक्तौ भाववृत्तिसमवायस्वरूपपदार्थविभाजकोपाधिमादाय समवायेऽतिव्याप्तिः । भावेत्यनुक्तावभावेऽतिव्याप्तिः। पदार्थं विभजत इत्यनुक्तौ भावत्वमादाय समवायेऽतिव्याप्तिः । उपाधीत्यनुक्त्वा जातीत्युपादाने सामान्यादावव्याप्तिः । उपाधिमत्ता च समवायस्वरूपान्यतरसम्बन्धेनेति ।

नन्वेकभाववृत्तीत्यत्र अनेकत्वं यदि बहुत्वसङ्ख्या, तदा गुणादौ सङ्ख्याविरहात् तेष्वव्याप्तिः । यदि यत्किञ्चिदेकभिन्नत्वं, तदा समवायेऽतिव्याप्तिः यदि च एकत्वावच्छिन्नसामान्यभेदः, तत्र चैकत्वं यदि सङ्ख्यारूपं, तदोक्तातिव्याप्तितादवस्थ्यम् । यदि च तन्मात्रविषयत्वं, तदाऽसिद्धिः तादृशैकत्वस्य केवलान्वयित्वादिति चेत् ? उच्यते, स्वप्रतियोगिवृत्तित्व-स्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन भेदविशिष्टत्वे सति भाववृत्तित्वमनेकभाववृत्तित्वमित्यङ्गीकारेणादोष इति ।

द्रव्य आदि पांच भाव पदार्थोंमें अनेकत्व और समवायित्व साधर्म्य हैं। आदिके तीन
(द्रव्य, गुण और कर्म) में सत्तावत्त्वरूपी साधर्म्य है और गुणसे लेकर अन्तिम पदार्थों तक
निर्गुणत्व और निष्क्रियत्वरूपी साधर्म्य है ।
द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पांचोंमें अनेकत्व और समवायित्वरूपी
साधर्म्य हैं। यद्यपि अनेकत्व अभावमें भी है तथापि अनेकत्वके साथ साथ भावत्व भी इन
पांच पदार्थोंका साधर्म्य है । तात्पर्य यह है कि 'अनेक भाववृत्ति जो पदार्थविभाजक उपाधि
उसका आश्रयत्व'। इस लक्षणमें यदि 'अनेक' पद न दें तो भाववृत्ति समवायस्वरूप
पदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व समवायमें रहेगा जिससे अतिव्याप्ति होती। यदि भाव पद न दें
तो अभावमें अतिव्याप्ति हो। 'पदार्थविभाजक' पद न दें तो भावत्वको लेकर समवायमें
अतिव्याप्ति हो। 'उपाधि' न कहकर यदि 'जाति' कहें तो सामान्यमें लक्षण जायगा; अतः
मूलोक्त लक्षण किया। इसीलिए घट और आकाश आदिमें अव्याप्ति नहीं हुई। तात्पर्य
यह है कि 'अनेकभाववृत्तित्व' का अर्थ है स्वप्रतियोगिवृत्तित्व, स्वसामानाधिकरण्योभय-

समवायित्वं च समवायसम्बन्धेन सम्बन्धित्वं न तु समवायवत्त्वं सामान्यादावभावात् । तथा च समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थः । तेन नित्यद्रव्येषु नाव्याप्तिः ।

सत्तावन्त इति । द्रव्यगुणकर्मणां सत्तावत्त्वमित्यर्थः ।

गुणादिरिति । यद्यपि गुणक्रियाशून्यत्वमाद्यक्षणे घटादावतिव्याप्तं

समवायित्वं चेति । ननु समवायोऽस्यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या समवायित्वमित्यस्य समवायानुयोगित्वमित्यर्थः, तच्च सामान्यादौ नास्तीत्यव्याप्तिरित्यत आह—

समवायसम्बन्धेन सम्बन्धित्वमिति । समवायित्वमित्यनेन समवायानुयोगित्वं समवायप्रतियोगित्वं चोभयं विवक्षितमिति भावः ।

ननु समवायसम्बन्धेनेत्यत्र 'प्रकृत्यादिभ्यश्च' इति तृतीयाया अभेदोऽर्थस्ततश्च समवायसम्बन्धाभिन्नसम्बन्धवत्त्वमित्यर्थः । तत्र षष्ठ्यर्थं इनिप्रत्ययेन समवायप्रतियोगित्वमित्यर्थे नित्यद्रव्येष्वव्याप्तिः । सप्तम्यर्थं इनिना समवायानुयोगित्वमित्यर्थे सामान्यादावव्याप्तितादवस्थ्यमत आह—

समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति । समवायश्च न समवेतस्तस्य स्वरूपेण वृत्तेरित्यलम् ।

समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं द्रव्यादीनां चतुर्णां साधर्म्यम् ।

सत्तावत्त्वमिति । सत्तावत्त्वं समवायेन विवक्षितम् । तेन एकार्थसमवायेन सत्तायाः सामान्यादिवृत्तित्वेऽपि न क्षतिरिति बोध्यम् ।

आद्यक्षणे घटादावतिव्याप्तमिति । 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठती'ति

सम्बन्धेन भेदविशिष्टत्वे सति भाववृत्तित्वम्' जिससे अनेक भाववृत्तिपदार्थविभाजकोपाधि द्रव्यत्वरूप हुई जो प्रत्येक घटमें और आकाशमें रहती है ।

'समवायित्व' पदका अर्थ है समवायसम्बन्धसे सम्बन्धित्व, अर्थात् अनुयोगिता और प्रतियोगितासम्बन्धसे समवायविशिष्टत्व । केवल समवायवत्त्वरूप नहीं । क्योंकि समवायसम्बन्ध अनुयोगी (द्रव्य, गुण और कर्म) और प्रतियोगी सामान्य और विशेषमें भी अनुयोगित्वप्रतियोगित्वरूप किसी एक सम्बन्धसे है । समवायवत्त्व कहनेसे अनुयोगीमात्रका ग्रहण होगा प्रतियोगी छूट जायेंगे जो अनुचित होगा । इसलिए निष्कर्ष यह हुआ कि समवेत (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष) में वृत्ति जो पदार्थविभाजकोपाधि (द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व और विशेषत्व) उसका अधिकरणत्व समवायित्व फलितार्थ है । इसलिए नित्यद्रव्यों (परमाणु तथा आकाशादि) में अव्याप्ति नहीं हुई ।

द्रव्य, गुण और कर्म इनका सत्तावत्त्वरूप साधर्म्य है ।

यदि निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व पदकी व्याख्या करें कि गुणशून्य या क्रियाशून्य । तो

क्रियाशून्यत्वं च गगनादावतिव्याप्तं तथापि गुणवदवृत्तिधर्मवत्त्वं कर्मवदवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं तदर्थः । नहि घटत्वादिकं द्रव्यत्वं वा गुणवदवृत्ति कर्मवदवृत्ति वा, किं तु गुणत्वादिकं तथा, आकाशत्वादिकं तु न पदार्थविभाजकोपाधिः ॥ १४ ॥

सामान्यपरिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो मताः ।
पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम् ॥ १५ ॥

सामान्येति । सामान्यानधिकरणत्वं सामान्यादीनामित्यर्थः । पारिमाण्डल्येति । पारिमाण्डल्यमणुपरिमाणं, कारणत्वं तद्भिन्नानां

नियमात् आद्यक्षणे घटे निर्गुणत्वमतिव्याप्तमिति भावः ।

न चोक्तनियमे मानाभावः, गुणं प्रति द्रव्यस्य कारणतया गुणोत्पत्तेः प्राक् कारणीभूतद्रव्यसत्ताया आवश्यकत्वस्यैव मानत्वात् । द्रव्यगुणयोः सहोत्पत्तौ तु सव्येतर·विषाणयोरिव कार्यकारणभावानुपपत्तिः स्यादिति ध्येयम् ॥ १४ ॥

सामान्यपरिहीनास्त्विति । 'कृत्यचः' इति णत्वेन सामान्यपरिहीणा इत्येव पाठो युक्त इति ध्येयम् ।

केचित्तु परीत्यस्य 'अधिपरी अनर्थकौ' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयतया उपसर्गत्वाभावेन न णत्वप्राप्तिरिति वदन्ति ।

नन्वेकार्थसमवायेन सामान्यवत्त्वं सामान्यादीनामप्यस्तीति जात्यादयः सामान्यपरिहीणा इति कथनमयुक्तमतो व्याचष्टे—सामान्यानधिकरणत्वमिति । तथा च वृत्तितानियामकसम्बन्धेन सामान्यवत्त्वं न जात्यादेरिति भावः ।

पारिमाण्डल्येति । पारिमाण्डल्यम् अणुपरिमाणम् । तच्च परमाणुपरिमाणं द्व्यणु·

ठीक नहीं। क्योंकि आद्यक्षणके घटमें जहाँ कोई गुण और क्रिया नहीं रहती अतिव्याप्ति होगी और आकाश जो सदा निष्क्रिय है उसमें भी अतिव्याप्ति होगी। इसलिए निर्गुणत्वका अर्थ है। गुणवदवृत्ति धर्मवत्त्व और निष्क्रियत्वका अर्थ है कर्मवदवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व। जिससे कहीं दोष नहीं हैं। क्योंकि घटत्व आदि अथवा द्रव्यत्व न तो गुणवदवृत्ति है और न कर्मवदवृत्ति है। किन्तु गुणत्व आदि है। आकाशत्व तो पदार्थविभाजकोपाधि ही नहीं है। इसलिए कहीं अतिव्याप्ति नहीं हुई ॥ १४ ॥

सामान्य आदि पदार्थोंमें सामान्यशून्यत्व साधर्म्य है और अणुपरिमाण, परममहत्व परिमाणसे भिन्नका सामर्थ्य कारणत्व है।

सामान्य, विशेष, समवाय और अभावका साधर्म्य सामान्यशून्यत्व है। पारिमाण्डल्य अणुपरिमाणको कहते हैं। उनसे भिन्न पदार्थोंमें कारणत्वरूप साधर्म्य रहता है। अणु-

साधर्म्यमित्यर्थः। अणुपरिमाणं तु न कस्यापि कारणम्। तद्धि स्वाश्रयारब्धद्रव्यपरिमाणारम्भकं भवेत्। तच्च न सम्भवति, परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमान्महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसङ्गात्। एवं परममहत्परिमाणमतीन्द्रियसामान्यं विशेषाश्च बोध्याः। इदमपि योगिप्रत्यक्षे विषयस्य न कार·

कपरिमाणं च। अणुपरिमाणभिन्नानां कारणत्वं साधर्म्यम्। अणुपरिमाणं तु न कस्यापि कारणमिति। अणुपरिमाणं हि स्वाश्रयारब्धद्रव्यपरिमाणारम्भकं भवेत्। स्वमणु परिमाणं, तदाश्रयीभूतं द्रव्यं परमाणुर्द्व्यणुकं च, तदारब्धं द्रव्यं द्व्यणुकं त्रसरेणुश्च, तत्परिमाणं द्व्यणुकपरिमाणं त्रसरेणुपरिमाणं च, तस्यैवारम्भकं भवेत्। ततश्च परिमाणस्य स्वसजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमेन महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसङ्गात्।

ननु द्व्यणुकपरिमाणस्य किमसमवायिकारणमिति चेत्? तर्हि परमाणुगतद्वित्वसङ्ख्यैवेत्यवेहि। एवं त्रसरेणुपरिमाणस्य द्व्यणुकगतत्रित्वसङ्ख्यैवासमवायिकारणमिति बोध्यम्।

नन्वेवं कपालगतद्वित्वसङ्ख्यैव घटादिपरिमाणस्यापि कारणमस्तु इति चेद्? न, द्वित्वसङ्ख्यायामणुपरिमाणारम्भकस्य द्व्यणुके दृष्टतया प्रकृतेऽपि घटपरिमाणस्याणुत्वापत्त्या घटस्याप्रत्यक्षत्वापत्तेः द्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वस्य कारणत्वात्।

कारिकायां पारिमाण्डल्यपदं परममहत्परिमाणस्यातीन्द्रियसामान्यस्य विशेषाणां चोपलक्षणम्। तथा च तेषामपि न कुत्रापि कारणत्वमिति बोध्यम्।

ननु विषयतया प्रत्यक्षं प्रति तादात्म्येन विषयस्य कारणत्वात् पारिमाण्डल्यादेरपि योगिप्रत्यक्षे कारणतया पारिमाण्डल्यभिन्नानामित्ययुक्तमिति चेत्? न, योगजधर्मेणातीतानागतविषयस्यापि प्रत्यक्षत्वाद् योगिप्रत्यक्षे विषयस्य कारणत्वानभ्युपगमात्। तदाह—इदमपीति।

परिमाण किसीका कारण नहीं होता। अणुपरिमाण यदि किसीका कारण होता तो व· स्व = अणुपरिमाण, तदाश्रयीभूतद्रव्य = परमाणु और द्व्यणुक, उससे आरब्ध द्रव्य द्व्यणुक· त्रसरेणु उसका परिमाण द्व्यणुक या त्रसरेणुका परिमाण उसीका आरम्भक होता। किन्· यह सम्भव नहीं। क्योंकि परिमाणके बारेमें एक नियम है कि वह 'अपने समानजाति· उत्कृष्ट परिमाणको उत्पन्न करता है।' जैसे महत्से आरब्ध महत्तर होता है वैसे अणु· आरब्ध अणुतर ही हो सकता है। इसलिए वह द्व्यणुक आदिके परिमाणका जनक न· है। इसी प्रकार परममहत् परिमाण, अतीन्द्रिय (गुरुत्व आदि) जाति और विशेष पदार्थ· किसीके कारण नहीं होते हैं। यह सब विचार योगियोंके प्रत्यक्षसे विषयको कारण·

णत्वम् । ज्ञायमानं सामान्यं न प्रत्यासत्तिः । ज्ञायमानलिङ्गं नानुमिति-करणमित्यभिप्रायेणोक्तम् । मानसप्रत्यक्षे आत्ममहत्त्वस्य कारणत्वान्महत्परिमाणं कालादेर्बोध्यम् ।

तस्यापि न कारणत्वमित्याचार्याणामाशय इत्यन्ये । तन्न, ज्ञानातिरिक्तं प्रत्येवाकारणताया आचार्यैरुक्तत्वात् ॥ १५ ॥

ननु ज्ञायमानसामान्यस्य प्रत्यासत्तितया पारिमाण्डल्यादेः सामान्यलक्षणाजन्यज्ञाने कारणत्वात्पुनरपि पारिमाण्डल्यभिन्नानामित्ययुक्तमिति चेद् ? न, ज्ञायमानसामान्यस्य प्रत्यासत्तित्वे यत्र तद्घटनाशानन्तरं तद्घटवतः स्मरणं जातं तत्र सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या सर्वेषां तद्घटवतां भानानापत्तिरतः सामान्यज्ञानस्य सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तितयाऽदोषात् । तदाह—ज्ञायमानमिति ।

ननु अनुमितिं प्रति ज्ञायमानलिङ्गस्य कारणतया परमाणौ परमाण्वन्तरभेदसाधने विशेषस्य हेतुतया विशेषो न कस्यापि कारणमित्ययुक्तमिति चेत् ? न, इयं शाला अतीतवह्निमती, अतीतधूमादित्यनुमितेर्दर्शनेनानुमितिं प्रति ज्ञायमानलिङ्गस्य कारणताया अभ्युपगन्तुमनर्हतया लिङ्गज्ञानस्यैव कारणत्वाभ्युपगमात् ।

नचैवं धूमादिति पञ्चम्यनुपपत्तिर्धूमस्याहेतुत्वादिति वाच्यम्, धूमपदस्य धूमज्ञानलक्षणया तदुपपत्तेः । तदाह—ज्ञायमानं लिङ्गमिति ।

नन्वात्ममानसप्रत्यक्षे आत्ममहत्त्वस्य कारणत्वात्परममहत्परिमाणं न कस्यापि कारणमित्ययुक्तमिति चेद् ? न, आत्मपरममहत्त्वातिरिक्तपरममहत्परिमाणं न कस्यापि कारणमिति स्वीकारेणादोषात् ।

केचित्तु 'कारणत्वं चान्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः' इति प्रशस्तपादभाष्यमुपादाय आदिपदेन परममहत्त्वं गृह्यत इति किरणावल्यामुदयनाचार्योक्त्या 'आत्मपरममहत्परिमाणमपि न कस्यापि कारणमित्यवगम्यते इत्याहुस्तन्न, कारणत्वं च ज्ञातृधर्मेतरभावकार्यापेक्षया' इति तदुत्तरग्रन्थेन ज्ञानातिरिक्तं प्रत्येवाकारणत्वस्य परममहत्परिमाणे उदयनाचार्याभिमततया आत्मपरममहत्परिमाणस्य ज्ञानेऽपि न कारणत्वमित्याचार्याभिप्रायस्य वक्तुमशक्यत्वात् । तदाह—तस्यापीत्यादिना ॥ १५ ॥

मानकर ही किया गया है । अन्यथा इनमें भी प्रत्यक्षके प्रति करणता तो सिद्ध ही हो जायेगी ।

ज्ञायमान सामान्य प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) नहीं है किन्तु सामान्यज्ञान ही प्रत्यासत्ति है । अतः अणुपरिमाण सामान्यलक्षणाजन्य ज्ञानमें कारण नहीं माना जाता । अनुमितिके बारेमें तो इससे भेद है वहां ज्ञायमान लिंगको अनुमितिका कारण नहीं मानते । किन्तु लिंगज्ञान अनुमितिके प्रति कारण है । अन्यथा-'इयं शाला अतीतवह्निमती अतीतधूमात' यह अनुमान नहीं हो सकेगा । मानस प्रत्यक्षमें आत्ममहत्त्व ही कारण है । इसलिए

ननु कारणत्वं किम् ? अत आह—

अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ।
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम् ॥ १६ ॥
समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ।
एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ॥ १७ ॥

अन्यथासिद्धीति । तस्य कारणत्वस्य ॥ १६-१७ ॥

यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनकं तत् ।
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात् ॥१८॥

तत्रेति । समवायिकारणे आसन्नं प्रत्यासन्नं कारणं द्वितीयमसम-

अन्यथासिद्धिशून्यस्येति । अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति कार्याव्यवहितप्राक्क्षणाव-च्छेदेन नियमेन विद्यमानत्वं कारणत्वम् । दण्डत्वादौ कार्याव्यवहितप्राक्क्ष०।वच्छे-देन विद्यमानत्वसत्त्वादतिव्याप्तिरतः सत्यन्तम् । यत्किञ्चिद्घटव्यक्तिं प्रति रासभस्य नियतपूर्ववर्तित्वमस्ति, तथापि घटजातीयं प्रति सिद्धकारणभावैर्दण्डादिभिरेव तद्व्य-क्तेरपि सम्भवे रासभोऽन्यथासिद्ध इति पञ्चमान्यथासिद्धिमत्त्यपि तद्घटत्वावच्छिन्नं प्रति तद्रासभे घटत्वावच्छिन्नेऽनन्यथासिद्धतया तद्रासभेऽतिव्याप्तिवारणाय नियतेति । नियतविद्यमानत्वमित्यस्य नियतविद्यमानजातीयत्वमित्यर्थः । तेना-रण्यस्थदण्डेऽपि कारणत्वोपपत्तिरित्यलम् ॥ १६-१७ ॥

आकाश, काल आदिका महत्व परिमाण कारण नहीं होता यह समझना चाहिये । आचार्यके मत में आत्ममहत्परिणाम भी कारण नहीं है, यह कहना भूल है । क्योंकि उदयना-चार्यका मत है कि ज्ञानसे अतिरिक्त किसीके प्रति आत्ममहत्परिमाण कारण नहीं है ॥१५॥

कारणत्व क्या है ? इस पर कहते हैं ।

जो अन्यथासिद्धिसे शून्य हो और कार्यसे नियमतः पूर्व रहता हो उसे कारण कहते हैं । न्यायशास्त्रके विद्वानोंने उसके तीन भेद माने हैं । एक समवायिकारण, दूसरा असम-वायिकारण और तीसरा निमित्तकारण । तस्य पदका अर्थ है कारणत्वका ॥ १६-१७ ॥

जिसमें समवायसम्बन्धसे कार्य उत्पन्न हो उसे समवायिकारण कहते हैं । समवायि-कारणसे अत्यन्त निकट जो कारण है वह असमवायिकारण है । और इन दोनोंसे भिन्न कारण निमित्तकारण है ।

समवायिकारण में आसन्न प्रत्यासन्न (वृत्ति) जो कारण वह द्वितीय असमवायिकारण है । यद्यपि इस लक्षणके अनुसार तुरी और तन्त-संयोगको पटका असमवायिकारण,

वायिकारणमित्यर्थः। अत्र यद्यपि तुरीतन्तुसंयोगानां पटासमवायिकारणत्वं स्यात्। एवं वेगादीनामभिघाताद्यसमवायिकारणत्वं स्यात्। एवं ज्ञानादिकमपीच्छाद्यसमवायिकारणं स्यात्। तथापि पटासमवायिकारणलक्षणे तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्वं देयम्। तुरीतन्तुसंयोगस्तु तुरीपटसंयोगं प्रत्यसमवायिकारणं भवत्येव। एवं वेगादिकमपि वेगस्पन्दाद्यसमवायिकारणं भवत्येवेति तत्तत्कार्यासमवायिकारणलक्षणे तत्तद्भिन्नत्वं देयम्। आत्मविशेषगुणानां तु कुत्राप्यसमवायिकारणत्वं नास्ति तेन तद्भिन्नत्वं सामान्यलक्षणे देयमेव।

अत्र समवायिकारणे प्रत्यासन्नं द्विविधं कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या च। आद्यं यथा—घटादिकं प्रति कपालसंयोगादिकमसमवायिकारणम्। तत्र कार्येण घटेन सह कारणस्य कपालसंयोगस्यैकस्मिन्कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति। द्वितीयं यथा—घटरूपं प्रति कपालरूपमसमवायिकारणम्। तत्र स्वगतरूपादिकं प्रति समवायिकारणं घटः तेन सह कपालरूपस्यैकस्मिन्कपाले प्रत्यासत्ति-

---

अत्र यद्यपीति। ननु तुरीतन्तुसंयोगस्य पटासमवायिकारणत्वे को दोष इति चेत्? न, असमवायिकारणनाशस्य द्रव्यनाशकत्वनियमेन तुरीतन्तुसंयोगनाशे पटनाशापत्तेः।

न चोक्तनियमे मानाभावः, समवायिकारणनाशे द्रव्यनाश इति नियमस्वीकारेणैव द्रव्यनाशोपपत्तेरिति वाच्यम्, द्व्यणुकनाशान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पनात्।

अभिघातको वेगका असमवायिकारण और ज्ञानको इच्छाका असमवायिकारण होना चाहिए। किन्तु असमवायिकारणके नाशसे द्रव्यका नाश होता है यह नियम है। तुरी और तन्तु संयोगके नाशसे पटरूपी द्रव्यका नाश नहीं होता। यद्यपि पटके समवायिकारण तन्तुमें प्रत्यासन्नकारण तुरीतन्तुसंयोग है। तथापि पटासमवायिकारणके लक्षणमें 'तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्व' पदका निवेश करना चाहिए। तुरी और तन्तुसंयोग तो तुरी और पटसंयोगके प्रति असमवायिकारण होता ही है। इसी प्रकार वेग भी वेग और स्पन्दका असमवायिकारण है ही। इसलिए उन उन कार्योंके असमवायिकारणके लक्षणमें 'तद्भिन्नत्व' निवेश कर देना चाहिये। आत्माके विशेषगुण तो किसी भी कार्यके प्रति असमवायिकारण नहीं हैं। इसलिए सामान्यलक्षणमें 'तद्भिन्नत्व' निवेश करना चाहिए।

समवायिकारणमें प्रत्यासन्न दो प्रकारसे होता है। एक तो कार्यैकार्थप्रत्यासत्तिसे और दूसरा कारणैकार्थप्रत्यासत्तिसे। पहले पक्षमें जैसे-घटके प्रति कपालसंयोग असमवायिकारण

रस्ति । तथा च क्वचित्समवायसम्बन्धेन क्वचित्स्वसमवायिसमवायसम्बन्धेनेति फलितोऽर्थः ।

इत्थं च कार्यैकार्थकारणैकार्थान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकारणे प्रत्यासन्नं कारणं ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणमिति सामान्यलक्षणं पर्यवसन्नम् । आभ्यां समवायिकारणासमवायिकारणाभ्यां परं भिन्नं कारणं तृतीयं निमित्तकारणमित्यर्थः ॥ १८ ॥

इदानीमन्यथासिद्धत्वमेव कियतां पदार्थानामत आह—

येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य ।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम् ॥ १९ ॥

इत्थञ्चेति । यत्कार्यसमवायिकारणे समवायस्वसमवायिसमवेतत्वान्यतरसम्बन्धेन विद्यमानं यत्कारणं ज्ञानादिभिन्नं तत्कार्यं प्रत्यसमवायिकारणमिति पर्यवसन्नम् ।

ननु ज्ञानादीनां किमसमवायिकारणमिति चेदात्ममनःसंयोग एवेति गृहाण ।

ननु 'समवायिकारणासमवायिकारणभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्' इदं लक्षणमयुक्तं तुरीपटसंयोगासमवायिकारणस्य तुरीतन्तुसंयोगस्य पटं प्रति निमित्तत्वानापत्तेरिति चेद् ? न, समवायिकारणत्वासमवायिकारणत्वभिन्नकारणत्वं निमित्तकारणत्वमित्यर्थे तात्पर्येणादोषात् ॥ १८ ॥

है। यहां कार्य घटके साथ कारण (कपालसंयोग) का एक कपालरूपी अर्थसे प्रत्यासत्ति है। दूसरे पक्षमें जैसे-घटरूपके प्रति कपालरूप असमवायिकारण है। इसमें अपने रूपके प्रति समवायिकारण घट है उसके साथ कपालरूपका कारणीभूत एक अर्थ कपालमें प्रत्यासत्ति है। इसकी भी वृत्तिता कहीं पर समवायसम्बन्धसे कहीं स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धसे असमवायिकारणके लक्षणमें प्रविष्ट है।

अब असमवायिकारणका सामान्य लक्षण इस प्रकार बना कि 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति या कारणैकार्थप्रत्यासत्ति द्वारा समवायिकारणसे प्रत्यासन्न जो ज्ञान आदिसे भिन्न कारण उसे असमवायिकारण कहते हैं। इन समवायिकारण और असमवायिकारणोंसे भिन्न तीसरा कारण निमित्तकारण है ॥ १८ ॥

कार्यके प्रति कितने पदार्थ अन्यथासिद्ध हैं यह बतलाते हैं—इस कारिकामें पांच अन्यथासिद्ध बताए गए हैं।

जिस कार्यके प्रति जिस कारण की पूर्ववृत्तिता जिस रूप से गृहीत हो वह रूप प्रथम अन्यथासिद्ध है। जिसका कारणके बिना अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन सकता हो वह दूसरा अन्यथासिद्ध है। जिसकी पूर्ववृत्तिता किसी अन्यके प्रति ज्ञात होकर ही कार्य के प्रति पूर्व-

जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते ।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः ॥२०॥

येनेति । यत्कार्यं प्रति कारणस्य पूर्ववृत्तिता येन रूपेण गृह्यते तत्कार्यं प्रति तद्रूपमन्यथासिद्धमित्यर्थः । यथा घटं प्रति दण्डत्वमिति ।

द्वितीयमन्यथासिद्धमाह—कारणमिति । यस्य स्वातन्त्र्येणान्वय·

यत्कार्यं प्रतीति । घटकार्यं प्रति दण्डस्य पूर्ववर्तिता दण्डत्वेन गृह्यते, दण्डत्वाव, च्छिन्नस्य घटं प्रति कारणत्वादिति घटं प्रति दण्डत्वमन्यथासिद्धमिति समन्वयः ।

यस्य स्वातन्त्र्येणेति । घटकार्यं प्रति दण्डरूपस्य अन्वयव्यतिरेकौ घटकारणीभूत· दण्डमादायैव गृह्येते न स्वातन्त्र्येणेति घटं प्रति दण्डरूपमन्यथासिद्धम्, 'यत्र स्वाश्रय· जन्यभ्रमिमत्त्वसम्बन्धेन दण्डरूपं तत्र घटः' इत्यन्वये 'यत्रोक्तसम्बन्धेन दण्डरूपा· भावस्तत्र घटाभावः' व्यतिरेके च स्वाश्रयपदेन दण्डस्यैव ग्रहणेन दण्डमादायै· वान्वयव्यतिरेकयोर्ग्रहात् । स्वं दण्डरूपं, तदाश्रयो दण्डरूपः, तज्जन्यभ्रमणवत्त्वं चक्रे, तत्रैव घट इति बोध्यम् । अन्वयव्यतिरेकयोः स्वातन्त्र्यं च 'स्वाभिन्नप्रकृतकार्यकारणा· न्वयव्यतिरेकाप्रयुक्तत्वम्' तच्च प्रकृतान्वयव्यतिरेकयोर्नास्तीति सर्वं सुस्थम् ।

न च,'कारणमादाय वा यस्य' इति द्वितीयान्यथासिद्धिलक्षणे कारणत्वस्य, कारण· त्वलक्षणे अन्यथासिद्धेश्च प्रवेशेनान्योन्याश्रयप्रसङ्ग इति वाच्यम्, पृथगन्वयव्यति· रेकशालित्वरूपकारणत्वस्य अन्यथासिद्धिलक्षणे प्रवेशेनान्योन्याश्रयाभावात् ।

ननु द्वितीयान्यथासिद्धिलक्षणस्य दण्डत्वेऽपि सद्भावात् प्रथमान्यथासिद्ध्यनङ्गी· कार एवेति चेत् ? न, स्वातन्त्र्येण, यत्कार्यनिरूपितान्वयव्यतिरेकशून्यत्वे सति तत्कार्यकारणावच्छिन्नत्वनिष्ठतत्कार्यनिरूपितनियतपूर्ववृत्तित्वग्रहविशेष्यताश्रयत्त

वृत्तिताका ज्ञान हो वह तीसरा—अन्यथासिद्ध है । जिस कार्यके जनकके प्रति पूर्ववृत्तिता ज्ञात होकर ही कार्यके प्रति पूर्ववृत्तिता-ज्ञान हो वह चौथा अन्यथासिद्ध है और कार्यके प्रति जिसकी पूर्ववृत्तिता आवश्यकरूपसे मानी गई हो उससे अतिरिक्त जो कोई हो वह पांचवां अन्यथासिद्ध है ।

इस कारिका की व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार करते हैं कि जिस कार्यके प्रति कारणकी पूर्ववृत्तिता जिस रूपसे जानी गई हो उस कार्यके प्रति वह रूप अन्यथासिद्ध है अर्थात् कारण नहीं है । जैसे घटरूपी कार्यके प्रति कारण (दण्ड) की पूर्ववृत्तिता दण्डत्वरूपसे जानी गई है । अतः घटकार्यके प्रति दण्डत्व कारण नहीं है किन्तु अन्यथासिद्ध है ।

द्वितीय अन्यथासिद्ध बताते हैं—जिसका स्वतन्त्ररूपसे अन्वयव्यतिरेक नहीं सिद्ध है किन्तु कारणके साथ ही अन्वयव्यतिरेक सिद्ध है वह भी अन्यथासिद्ध है । जैसे दण्डका रूप । घटकार्यके प्रति दण्डरूपका अन्वयव्यतिरेक घटके कारण दण्डके द्वारा ही जाना

व्यतिरेकौ न स्तः, किं तु कारणमादायैवान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तदन्यथासिद्धम् । यथा दण्डरूपम् ।

त्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धमित्येवंरूपाया द्वितीयान्यथासिद्धेर्दण्डत्वेऽसत्त्वेन प्रथमान्यथासिद्धेरावश्यकत्वात् । तथाहि, दण्डरूप घटनियतपूर्ववर्ति इति पूर्ववर्तित्वग्रहे घटकार्यकारणीभूतो यो दण्डस्तदवच्छिन्ना घटनियतपूर्ववर्तित्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितदण्डरूपनिष्ठा विशेष्यता वर्तते तदाश्रयो दण्डरूपं स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशून्यं चेति भवति समन्वयः

दण्डत्वं घटनियतपूर्ववर्तीति ग्रहे च दण्डत्वनिष्ठा विशेष्यता दण्डत्वत्वावच्छिन्ना न घटकारणीभूतदण्डावच्छिन्नेति न दोष इति । कपालसंयोगो घटपूर्ववर्तीति पूर्ववर्तित्वग्रहे कपालसंयोगनिष्ठविशेष्यतायाः घटकारणकपालावच्छिन्नतया कपालसंयोगेऽतिव्याप्तिरतः सत्यन्तम् । दण्डत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यम् । तथा स्वविशिष्टं प्रत्यन्यथासिद्धमिति लक्षणं पर्यवसन्नम् । वैशिष्ट्यञ्च स्वनिरूपितस्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशून्यत्व—स्वनिविशिष्टविशेष्यताश्रयत्वोभयसम्बन्धेन । अत्र वैशिष्ट्यं स्वकारणावच्छिन्नत्व-स्वनिरूपितनियतपूर्ववृत्तित्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितत्वोभयसंबन्धेन स्वं कार्यमिति बोध्यम् ।

प्रथमान्यथासिद्धिस्तु—तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितनियतपूर्ववर्तित्वग्रहविशेष्यतावच्छेदकत्वे सति तद्धर्मावच्छिन्नं प्रति स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशून्यत्वं तद्धर्मावच्छिन्नं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम् । तद्धर्मपदेन घटत्वम् । समन्वयस्तु दण्डो घटनियतपूर्ववर्तीति ग्रहे घटत्वावच्छिन्ननियतपूर्ववर्तित्वप्रकारकज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकत्वं स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशून्यत्वं च दण्डत्वस्येति बोध्यः । दण्डरूपेऽतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम् । कपालसंयोगो घटपूर्ववर्तीतिग्रहमादाय कपालेऽतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यम् ।

तथा च—स्वविशिष्टं स्वावच्छिन्नं प्रत्यन्यथासिद्धम् । वैशिष्ट्यञ्च-स्वावच्छिन्ननिरूपितनियतपूर्ववर्तित्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकत्व-स्वावच्छिन्ननिरूपितस्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशून्यत्वोभयसम्बन्धेन । स्वपदेन कार्यतावच्छेदकीभूतो धर्मो ग्राह्य इति ।

जायेगा स्वतन्त्र रूपसे नहीं । इसलिए घटके प्रति दण्डरूप अन्यथासिद्ध है । अन्वयव्यतिरेक जैसे—'यत्र स्वाश्रयजन्यभ्रमिमत्त्वसम्बन्धेन दण्डरूपं तत्र घटः' यह अन्वय और 'यत्र स्वाश्रयजन्यभ्रमिमत्वसम्बन्धेन दण्डरूपाभावस्तत्र घटाभावः' इस व्यतिरेकसे दण्डरूप कारणको समझकर ही अन्वयव्यतिरेक ज्ञात हो सका है । यहां स्व = दण्डरूप, उसका आश्रय = दण्ड उससे जन्यभ्रमिमत्व = चक्रमें वहीं घट भी है अतः दण्डरूपकी कारणता दण्डरूपीकारणके ही अन्वयव्यतिरेक पर निर्भर है ।

तृतीयमाह—अन्यं प्रतीति। अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्। यथा घटादिकं प्रत्याकाशस्य। तस्य हि घटादिकं प्रति कारणत्वमाकाशत्वेनैव स्यात्। आकाशत्वं हि शब्दसमवायिकारणत्वम्। एवं च तस्य शब्दं प्रति जनकत्वं गृहीत्वैव घटादिकं प्रति जनकत्वं ग्राह्यमतस्तदन्यथासिद्धम्।

ननु शब्दाश्रयत्वेन तस्य कारणत्वे काऽन्यथासिद्धिरिति चेत्? पञ्चमीति गृहाण। नन्वाकाशस्य शब्दं प्रति जनकत्वे[1] किमवच्छेदकमिति चेत्? कवत्वादिकं[2] विशेषपदार्थो वेति।

चतुर्थमन्यथासिद्धमाह—जनकं प्रतीति। यत्कार्यजनकं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्। यथा कुलालपितुर्घटं प्रति। तस्य हि कुलाल-

---

अन्यं प्रतीति। ननु कुलालपितुः कुलालं प्रति पूर्ववर्तित्वं गृहीत्वैव घटं प्रति पूर्ववर्तित्वं गृह्यते इति कुलालपितुरनेनैवान्यथासिद्धत्वसम्भवे चतुर्थान्यथासिद्धिः किमर्थेति चेत्? न, अन्यं प्रतीत्यत्रान्यपदेन प्रकृतकार्याजनकस्य ग्रहणेन कुलालस्य घटजनकत्वेन तस्यान्यपदेन ग्रहणसम्भवात्।

कुलालपितृत्वेनेति। अयं भावः—कुलालपितृत्वं हि कुलालनिष्ठजन्यतानिरूपित-

---

तीसरा अन्यथासिद्ध कहते हैं—अन्य (कारण और कार्यसे अन्य) के प्रति पूर्ववृत्तिता जानकर ही जिसकी जिस कार्यके प्रति पूर्ववृत्तिता जानी जाय वह उस कार्यके प्रति अन्यथासिद्ध है। जैसे-घटके प्रति आकाश। आकाश घटके प्रति आकाशत्व रूपसे ही कारण है शब्दके समवायिकारणको आकाश कहते हैं। इस प्रकार आकाश शब्दके प्रति जनक पहले जाना जाता है फिर घटके प्रति भी जनक होता है अतः अन्यथासिद्ध है।

यदि आकाश आकाशत्वरूपसे नहीं किन्तु शब्दाश्रयत्व रूपसे कारण हो तो कौनसा अन्यथासिद्ध माना जायगा? पाचवाँ। अस्तु आकाश तो समवायिकारण है फिर समवायिकारणताका अवच्छेदक क्या होगा? कवत्व। यदि कवत्व'क'रूप ही है और इस प्रकार अनेक वर्णोंको कारणतावच्छेदक माननेमें गौरव समझते हो तो विशेष पदार्थको ही अवच्छेदक माना जा सकता है।

चौथा अन्यथासिद्ध कहते हैं। जिस कार्यके जनकके प्रति पूर्ववृत्तिता जान लेनेके बाद

---

१. आकाशस्य समवायिकारणत्वे समवायिकारणताया अवच्छेदकमाकाशातिरिक्तं किमिति प्रष्टुराशयः। २. ननु कवत्वं क एवेति विनिगमकाभावेन बहूनां वर्णानां कारणतावच्छेदकत्वे गौरवमित्यत आह-विशेषपदार्थो वेति।

पितृत्वेन घटं प्रति जनकत्वे एवान्यथासिद्धिः। कुलालत्वेन जनकत्वे न्विष्टापत्तिः, कुलालमात्रस्य घटं प्रति जनकत्वात्।

पञ्चममन्यथासिद्धमाह—अतिरिक्तमिति अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थः। अत एव प्रत्यक्षे महत्त्वं कारणम्। अनेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धम्। तत्र हि महत्त्वमवश्यक्लृप्तं तेनानेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धम्।

न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, महत्त्वत्वजातेः कारणतावच्छेदकत्वे लाघवात्॥ १९-२०॥

पुंस्त्वसमानाधिकरणजनकतावत्त्वम्। जनकता च पूर्ववर्तित्वघटितेति कुलालपितृत्वेन घटं प्रति जनकत्वाङ्गीकारे कुलालपूर्ववर्तित्वग्रहस्य कुलालपितर्यावश्यकत्वम्। अन्यथा पूर्ववर्तित्वघटितजनकत्वग्रह एव न स्यात्। एवं तृतीयान्यथासिद्धयुदाहरणे शब्दसमवायिकारणत्वेन आकाशस्य कारणत्वाङ्गीकारे एव घटं प्रत्याकाशमन्यथासिद्धं कारणत्वस्य पूर्ववर्तित्वघटितत्वात्।

शब्दाश्रयत्वेन कारणत्वे तु आश्रयत्वस्य पूर्ववर्तित्वाघटितत्वेन नास्योदाहरणं तत्, किन्तु पञ्चमान्यथासिद्धत्वस्येति बोध्यम्।

अवश्यक्लृप्तेति। लघुनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थः।

लाघवादिति। अयं भावः—अनेकद्रव्यत्वं नानेकद्रव्यसमवेतत्वं, तस्य द्व्यणुकेऽपि सत्त्वेन द्व्यणुकप्रत्यक्षापत्तेः। अनेकद्रव्यसमवेतत्वं तद्वित्यपि न, तस्यारम्भकत्वे नाप्रत्यक्षत्वापत्तेः। किन्त्वणुभिन्नद्रव्यवत्त्वम्। एवं च महत्त्वस्य प्रत्यक्षं प्रति कारणत्वाङ्गीकारे महत्त्वत्वजातेः कारणतावच्छेदकतया लाघवम्। अनेकद्रव्यत्वस्य कारणत्वे तु गौरवम्, तस्य गुरुशरीरत्वात्। लाघवं त्रिविधं-शरीरकृतं, उपस्थितिकृतं, सम्बन्धकृतञ्च। तत्राद्यमुक्तम्। द्वितीयं—गन्धं प्रति गन्धप्रागभावस्य हेतुता शीघ्रोपस्थि

जिसकी जिस कार्यके प्रति पूर्ववृत्तिता जानी जाय वह उस कार्यके प्रति अन्यथासिद्ध है जैसे कुम्भकारका पिता घटके प्रति अन्यथासिद्ध है। क्योंकि उसकी घटरूप कार्यके जनक कुम्भकारकी पूर्ववृत्तिता सिद्ध है और कुम्भकारके पिताकी घटरूप कार्यके प्रति पूर्ववृत्तिता जानी गई है अतः कुम्भकारका पिता घटरूप कार्यके प्रति अन्यथासिद्ध है किन्तु कुम्भकारका पिता होनेके कारण वह अन्यथासिद्ध है यदि वह भी कुम्भकार ही हो तो वह भी अपने बनाए घटका कारण ही है क्योंकि कुम्भकार मात्र घटके प्रति कारण सिद्ध है।

पांचवाँ अन्यथासिद्ध कहते हैं—जिसके कारण माननेसे लाघव हो वह कारण है उससे भिन्न अन्यथासिद्ध है। इसलिए प्रत्यक्षमें महत्त्व कारण है (क्योंकि जो बड़ा होगा दिखा

एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम् ।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥ २१ ॥
द्वितीयं तु भवेद्व्योम कुलालजनकोऽपरः ।
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ ॥ २२ ॥

रासभादिरिति । यद्यपि यत्किञ्चिद्घटव्यक्तिं प्रति रासभस्य नियतपूर्ववर्तित्वमस्ति, तथापि घटजातीयं प्रति सिद्धकारणभावैर्दण्डादिभिरेव तद्व्यक्तेरपि सम्भवे रासभोऽन्यथासिद्ध इति भावः ।

एतेष्विति । एतेषु पञ्चस्वन्यथासिद्धेषु मध्ये पञ्चमोऽन्यथासिद्ध आवश्यकः, तेनैव परेषां चरितार्थत्वात् । तथाहि—दण्डादिभिरवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिभिरेव कार्यसम्भवे दण्डत्वादिकमन्यथासिद्धम् ।

त्विकत्वात्, न तु रूपप्रागभावस्येति । तृतीयं दण्डत्वादेर्घटकारणत्वे स्वाश्रयभ्रमिमत्वादिसम्बन्धकृतं गौरवमिति ॥ १९-२० ॥

ननु गुणकर्ममात्रवृत्तीत्यनेन गुणकर्मणोरसमवायिकारणत्वं साधर्म्यं प्रतीयते,

---

पड़ेगा) किन्तु अनेक द्रव्यवत्त्व अन्यथा सिद्ध है । क्योंकि महत्त्वमें लाघव है अनेक द्रव्यवत्त्व गौरव होनेसे अन्यथासिद्ध है ।

यदि अनेक द्रव्यवत्त्वको कारण माना जाय और महत्त्वको अन्यथासिद्ध मान लिया जाय तो क्या हानि है । सुनिए, महत्त्व को कारण माननेसे एक महत्त्व जाति कारणतावच्छेदक है । अनेक द्रव्यवत्त्व को कारण माननेसे कारणतावच्छेदक अधिक मानने पड़ेंगे । यहाँ अणुभिन्नद्रव्यत्वको ही अनेक द्रव्यत्व मानते हैं ॥ १९-२० ॥

जो पांच प्रकारके अन्यथासिद्ध कहे गए हैं, उनके उदाहरणोंमें प्रथम दण्डत्व है, घटके प्रति दण्डरूप दूसरा अन्यथासिद्ध बताया गया है, तीसरा, आकाश और चौथा कुलालका पिता है पांचवाँ रासभ (गदहा) है । इन पांच अन्यथा सिद्धोंमें पांचवाँ अन्यथासिद्ध अत्यन्त आवश्यक है ।

यद्यपि किसी एक घटके प्रति एक गदहा भी निश्चित रूपसे पूर्ववृत्ति है अतः कारण ही मानना चाहिए तथापि घट जातिके प्रति जो कारण सिद्ध हैं उन्हीं कारणोंसे उस घटकी भी उत्पत्ति बन सकती है अतः गदहा अन्यथासिद्ध ही माना गया है ।

इन पांच अन्यथासिद्धोंमेंसे पांचवाँ अन्यथासिद्ध लक्षण आवश्यक है क्योंकि उसीमें दूसरे अन्यथासिद्ध गतार्थ है । जैसे अवश्यस्वीकृत नियतपूर्ववर्त्ती दण्डसे कार्यसम्भव है दण्डत्व अन्यथासिद्ध है । इस प्रकार सब अन्यथासिद्धोंके बदलेमें भी यही अन्यथासिद्ध आवश्यक है ।

न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, दण्डत्वस्य कारणत्वे दण्डघटितपरम्परायाः सम्बन्धत्वकल्पने गौरवात्। एवमन्येषामप्यने-नैव चरितार्थत्वं सम्भवतीति बोध्यम् ॥ २१-२२ ॥

समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।
गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ॥ २३ ॥

समवायीति। स्पष्टम्।

गुणकर्मेति। असमवायिकारणत्वं गुणकर्मभिन्नानां वैधर्म्यं न तु गुणकर्मणोः साधर्म्यमित्यत्र तात्पर्यम्। अथवा असमवायिकारणवृत्ति-सत्ताभिन्नजातिमत्त्वं तदर्थः। तेन ज्ञानादीनामसमवायिकारणत्वविर-हेऽपि न क्षतिः ॥ २३ ॥

तच्चायुक्तं ज्ञानादीनां कुत्राप्यसमवायिकारणत्वं नास्तीति पूर्वमुक्तत्वादित्यत आह—असमवायिकारणत्वमिति।

ननु साधर्म्यप्रकरणे वैधर्म्यकथनमयुक्तमित्यरुचेराह—अथवेति। असमवायिका-रणवृत्तीत्यनुपादाने सत्ताभिन्नद्रव्यत्वजातिमादाय द्रव्येऽतिव्याप्तिः। सत्ताभिन्नेत्य-नुपादाने सत्तामादायोक्तातिव्याप्तितादवस्थ्यम्। जातीत्यनुक्तौ धर्मपदनिवेशे द्रव्य-गुणान्यतरत्वमादाय उक्तातिव्याप्तितादवस्थ्यमिति बोध्यम्। असमवायिकारणवृ-त्तिसत्ता भिन्नगुणत्वजातेर्ज्ञानादौ सत्त्वात् समन्वयः ॥ २३ ॥

दण्डके विपरीत दण्डत्वको कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि दण्डत्वको कारण मानें तो स्वाश्रयजन्यभ्रमिजन्यकपालद्वयसंयोगवत्त्वरूप परम्परासम्बन्धसे कारण मानना पड़ेगा। और दण्डत्वको कारण मानने पर कारणतावच्छेदकमें गौरव होगा। इसी प्रकार अन्य कारणोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिए ॥ २१-२२ ॥

द्रव्यमें समवायिकारणत्व साधर्म्य है। और गुणकर्मसे भिन्नमें असमवायिकारणत्व वैधर्म्य है।

यद्यपि कारिका देखनेसे ज्ञात होता है कि 'गुणकर्मका असमवायिकारणत्व साधर्म्य है' जो ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान आदि गुण किसी भी कार्यके प्रति असमवायिकारण नहीं होते तथापि उक्त कारिकाका अर्थ है गुणकर्मसे भिन्नोंका असमवायिकारणत्व वैधर्म्य, गुणकर्मका साधर्म्य नहीं। यदि साधर्म्यप्रकरणके बीचमें वैधर्म्य कहना उचित नहीं मानें तब 'असमवायिकारणवृत्ति सत्ताभिन्नजातिमत्त्व' गुणकर्ममात्रवृत्ति पदका अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार ज्ञानके असमवायिकारण न होने पर भी कोई हानि नहीं है ॥ २३ ॥

अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते ।

अन्यत्रेति । नित्यद्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि विहायाश्रितत्वं साधर्म्यमित्यर्थः । आश्रितत्वं तु समवायादिसम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वम्, विशेषणतया नित्यानामपि कालादौ वृत्तेः ।

इदानीं द्रव्यस्यैव विशिष्य साधर्म्यं वक्तुमारभते—

क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वं गुणयोगिता ॥ २४ ॥
क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ।
परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी ॥ २५ ॥

क्षित्यादीनामिति । स्पष्टम् ।

क्षितिरिति । पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां परत्वापरत्ववत्त्वं मूर्तत्वं

नित्यद्रव्येभ्योऽन्यत्राश्रितत्वं साधर्म्यमित्ययुक्तं, गगनं सर्वदैवास्तीति प्रतीत्या कालिकसम्बन्धेन नित्यद्रव्यस्याकाशस्यापि आश्रितत्वादत आह—

आश्रितत्वं च समवायादिसम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वमिति । सर्वाधारतानियामककालिकसम्बन्धातिरिक्तसम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वमिति यावत् ।

न च संयोगेन परमाणोरपि वृत्तितया परमाणावतिव्याप्तिरिति वाच्यम्, पतनप्रतिबन्धकीभूतसंयोगस्यैव वृत्तिनियामकतया गगनपरमाण्वादिसंयोगस्य वृत्त्यनियामकत्वात् ।

न च परमाण्वादौ पतनप्रतिबन्धकीभूतः संयोगः किं नेष्यते इति वाच्यम्, जन्यगुरुत्वस्य पतनकारणतया तदभावादेव परमाणुगगनादौ पतनस्याभावेन तादृशसंयोगस्य पतनप्रतिबन्धकत्वे मानाभावात् ।

नित्य द्रव्योंको छोड़कर सबका साधर्म्य आश्रितत्व है। नित्यद्रव्य (परमाणु और आकाश आदि) को छोड़कर आश्रितत्व साधर्म्य है। 'सर्वाधारतानियामक कालिक आदि सम्बन्धोंसे अतिरिक्त समवाय आदि सम्बन्धसे वृत्तिमान्‌को आश्रितत्व' कहते हैं। कालिक सम्बन्धसे नित्य पदार्थ भी कालमें रहते हैं अतः लक्षणका परिष्कार कर दिया गया।

अब विशेषरूपसे द्रव्योंका साधर्म्य कहते हैं :—

पृथ्वी आदि नव द्रव्योंमें द्रव्यत्व और गुणयोगित्वरूप साधर्म्य है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मनमें परत्व, अपरत्व, मूर्तत्व, क्रियावत्त्व और वेगवत्त्व साधर्म्य है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मनका परत्व, अपरत्व, मूर्तत्व, क्रियावत्त्व, वेगवत्त्व साधर्म्य है। जहां उत्पत्तिकालिक घटमें परत्व या अपरत्व उत्पन्न नहीं हुआ वहां अतिव्याप्ति

क्रियावत्त्वं वेगवत्त्वं च साधर्म्यम् । नच यत्र घटादौ परत्वमपरत्वं वा नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिरिति वाच्यं, परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । मूर्तत्वमपकृष्टपरिमाणवत्त्वम् । तच्च तेषामेव, गगनादिपरिमाणस्य कुतोऽप्यपकृष्टत्वाभावात् । पूर्ववत् कर्मवत्त्वं कर्मसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं, वेगवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं च बोध्यम् ॥ २४-२५ ॥

कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत् ।
क्षित्यादि पञ्च भूतानि चत्वारि स्पर्शवन्ति हि ॥ २६ ॥

परत्वादिसमानाधिकरणेति । आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय समानाधिकरणान्तम् । सत्तामादाय तत्रैवातिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वव्याप्येति । स्वस्यापि स्वव्याप्यत्वमिति सिद्धान्तात् तादृशं द्रव्यत्वमादायोक्तातिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वभिन्नत्वेनापि जातिर्विशेषणीया । आत्मपृथिव्यन्यतरत्वमादायात्मन्यतिव्याप्तिवारणाय जातीति ।

अपकृष्टेति । न च परमाणुपरिमाणस्यापकृष्टत्वाभावात्तत्राव्याप्तिरिति वाच्यम् अपकृष्टपरिमाणवत्त्वमित्यस्य परममहत्परिमाणभिन्नपरिमाणवत्त्वमित्यर्थं तात्पर्येणादोषात् ।

कर्मसमानाधिकरणेति । आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय समानाधिकरणान्तम् । सत्तामादाय तत्रैवातिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वव्याप्येति । आकाशपृथिव्यन्यतरत्वमादायाकाशेऽतिव्याप्तिवारणाय जातीति । जातिमत्त्वं च समवायेन बोध्यम् ।

वेगवद्वृत्तीति । आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय वृत्यन्तम् । सत्तामादाय तत्रैवातिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वव्याप्येति । आकाशपृथिव्यन्यतरत्वमादायाकाशेऽतिव्याप्तिवारणाय जातीति ॥ २४-२५ ॥

कारणके लिए 'परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्व'को लक्षण मानेगें । फिर परत्वके अधिकरण पृथ्वी आदिमें रहनेवाली द्रव्यत्वापरजाति पृथिवीत्व जाति तादृशजातिमत्त्व उत्पत्तिकालिक घटमें भी है । अतः दोष नहीं है । अवकृष्ट (न्यून) परिमाणवत्त्व को मूर्तत्व कहते हैं । यह तो पृथ्वी आदिमें ही रहेगा क्योंकि आकाश, काल, दिक् और आत्माका परिमाण किसी भी परिमाणसे छोटा नहीं है । इसी तरह कर्मत्वका भी लक्षण कर्मसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व और वेगवत्त्वका वेगवद्वृत्ति द्रव्यत्वव्याप्य जातिमत्त्व माना जायेगा ॥ २४-२५ ॥

काल, आकाश, आत्मा और दिशाओंमें सर्वगतत्व और परममहत्त्व परिमाणवत्त्व साधर्म्य है । पृथ्वी आदि पांचोंमें भूतत्व और पृथ्वी आदि चारमें स्पर्शवत्त्व साधर्म्य हैं ।

कालेति। कालाकाशात्मदिशां सर्वगतत्वं—सर्वमूर्तसंयोगित्वं परममहत्त्वं च साधर्म्यम्। परममहत्त्वं जातिविशेषः, अपकर्षानाश्रयपरिमाणत्वं वा।

क्षित्यादीति। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां भूतत्वं साधर्म्यम्। तच्च बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्। अत्र ग्राह्यत्वं लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वं बोध्यम्। तेन ज्ञातो घट इत्यादिप्रत्यक्षे ज्ञानस्याप्यु-

---

ननु कालादौ स्पन्दासम्भवेन सर्वगतत्वं तत्राव्याप्तमत आह—सर्वमूर्तेति।

परममहत्त्वं जातिविशेष इति। गुणपरात्परममहच्छब्दात्त्वप्रत्ययः अत्र इति बोध्यम्। यदि च परममहत्त्वत्वमिति पाठस्तदा द्रव्यपरात्परममहच्छब्दात्त्वप्रत्यये परममहत्त्वमिति, स च गुणस्ततस्त्वप्रत्यये परममहत्त्वत्वं जातिरिति ध्येयम्।

ननु परममहत्त्वस्य कारणताद्यनवच्छेदकत्वेन जातित्वसाधकप्रमाणविरहात्कथं जातित्वम्? 'अहं परममहान्' इति प्रतीतिविषयपरममहत्त्वस्य गगनपरिमाणसाधारणस्य जातित्वसम्भवेऽपि आत्मपरिमाणयोग्यमिति टीकाकृन्मते अहं परममहानिति प्रतीतेरभावात्तस्या अपि न जातित्वसाधकत्वमित्यरुचेराह—अपकर्षानाश्रयपरिमाणत्वं वेति।

ननु परिमाणनिष्ठोत्कर्षापकर्षयोः स्वजातीयपरिमाणावधिकत्वनियमः। एवं चाणुपरमाणेषु द्व्यणुकपरिमाणमेवापकर्षाश्रयो न परमाणुपरिमाणमिति परमाणावतिव्याप्तिरिति चेद्।

न, अपकर्षानाश्रयमहत्परिमाणवत्त्वमिति विवक्षणेन परमाणौ महत्परिमाणाभावेनातिव्याप्त्यनवकाशात्।

बहिरिन्द्रियेति। अन्तरिन्द्रिय (मनो) ग्राह्यसुखादिरूपविशेषगुणस्यात्मनि सत्त्वे नातिव्याप्तिवारणाय बहिः पदम्। परमाणुरूपादेरप्रत्यक्षतया बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वस्य परमाणावव्याप्तिरतो बहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमद्विशेषगुणवत्त्वं भूतत्वमिति वक्तव्यम्। तस्य संयोगप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य कारणतया कालादिवृत्तिसंयोगस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि बहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वस्य तादृशसंयोगेऽपि सत्त्वेन कालादावतिव्याप्तिरतो विशेषेति। द्रव्यत्वमादाय कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुणेति।

काल, आकाश, आत्मा और दिशामें सर्वगत्व, सर्वमूर्तसंयोगित्व और परममहत्त्व साधर्म्य है। परममहत्त्व एक प्रकारकी जाति है। यदि परममहत्त्वको जाति नहीं मानते तब अपकर्षानाश्रय परिमाणवत्त्वको ही परममहत्त्व मानते है। अर्थात् अपकृष्ट परिमाणवाले मूर्तद्रव्योंमें न रहने वाला परिमाण ही परममहत्त्व है यह मानते हैं।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशका भूतत्व साधर्म्य है। जिनमें रहने वाले विशेषगुण बहिरिन्द्रियसे गृहीत हों उन्हें भूत कहते हैं।

पनीतभानविषयत्वात्तद्वत्यात्मनि नातिव्याप्तिः। न वा प्रत्यक्षाविषयरूपादिमति परमाण्वादावव्याप्तिः, तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात्। महत्त्वलक्षणकरणान्तरासन्निधानाच्च न प्रत्यक्षम्। अथवा आत्मावृत्तिविशेषगुणवत्त्वं तत्त्वम्।

यथा 'सुरभि चन्दनखण्डमि'त्यत्र संयोसन्निकर्षेण चन्दनखण्डस्य स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयत्वरूपज्ञानलक्षणसन्निकर्षेण सौरभस्य चाक्षुषं भवति। तथा 'ज्ञातो घट' इति प्रत्यक्षे स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयत्वरूपज्ञानलक्षणसन्निकर्षेण ज्ञानस्यापि चाक्षुषमिति बहिरिन्द्रियग्राह्यजातीयज्ञानवत्त्वस्यात्मनि सत्त्वादतिव्याप्तिरतो ग्राह्यत्वं लौकिकसन्निकर्षेणेति बोध्यम्।

तथा च बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकसन्निकर्षप्रयोज्यज्ञानविषयजातिमद्विशेषगुणवत्त्वं फलितम्।

अत्र ग्राह्यत्वं लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वं बोध्यमिति। नन्वेवं चक्षुरादिगतरूपादिविशेषगुणानामनुभूतत्वेन बहिरिन्द्रियग्रहणायोग्यत्वाच्चक्षुरादावव्याप्तिः, स्वरूपयोग्यत्वमपहाय बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षविषयजातिमद्विशेषगुणवत्त्वविवक्षणेऽपि गौरवमस्त्येवेत्यरुचेराह—आत्मावृत्तीति। ज्ञानमादाय आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय आत्मावृत्तीति। दैशिकपरत्वापरत्वे आदाय मनस्यतिव्याप्तिवारणाय विशेषेति॥

किन्तु परमाणुरूपके अप्रत्यक्ष होनेके कारण भूतत्वका लक्षण परमाणुमें नहीं घटेगा। क्योंकि वह (परमाणु) वहिरिन्द्रियसे गृहीत विशेष गुणवाला नहीं है। अतः 'बहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमद्विशेषगुणवत्त्व भूतत्व माना जाना चाहिए। किन्तु जैसे 'सुरभिचन्दनखण्डम्' यहां संयोगसम्बन्धसे चन्दनखण्ड के 'स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमेवतज्ञानविषत्वरूप' (१) ज्ञान लक्षणासन्निकर्षद्वारा सौरभका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। वैसे 'ज्ञातो घटः' इस ज्ञानमें भी उक्त

---

(१) ज्ञानविषयताका या विषयतासम्बन्धेन ज्ञानका घटमें उपनीतभान है। ज्ञान लक्षणासन्निकर्ष नामके दूसरे सम्बन्धसे जो प्रतीति (ज्ञान) होती है उसे उपनीतभान कहते हैं। जब ज्ञानविषयताका कोई, घटके साथ चक्षुःसंयोग तथा घटमें ज्ञानविषयताका बाध और निश्चयाभाव ये तीन रहते हैं तब 'ज्ञानविषयत्वप्रकारक घटविशेष्यक औपनायिक चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। 'ज्ञातो घटः' (या ज्ञानविषयतावान् घटः) इस ज्ञानमें ज्ञानविषयताकी प्रतीति ज्ञानलक्षणा सन्निकर्षसे तथा घटकी प्रतीति चक्षुःसंयोगसे हुई है। अब विशेषता यह है कि जिसकी प्रतीति लौकिक सन्निकर्षसे होगी, उसपर लौकिक प्रत्यक्षीय विषयता रहेगी और जिसकी प्रतीति अलौकिक सन्निकर्षसे होगी, उसपर अलौकिक प्रत्यक्षीय विषयता रहेगी। इसी आधार पर सर्वसम्मत ज्ञानविषयता पर अलौकिक प्रत्यक्षीय विपयता तथा घटपर लौकिक प्रत्यक्षीय विषयता रहती है।

चत्वारीति । पृथिव्यप्तेजोवायूनां स्पर्शवत्त्वम् ॥ २६ ॥
द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यादथाकाशशरीरिणाम् ।
अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते ॥ २७ ॥

द्रव्यारम्भ इति । पृथिव्यप्तेजोवायुषु चतुर्षु द्रव्यारम्भकत्वं साध-

---

द्रव्यसमवायिकारणेति । वृत्त्यन्तानुपादाने द्रव्यत्वव्याप्यात्मत्वजातिमादायात्मन्य-तिव्याप्तिरतो वृत्त्यन्तम् । द्रव्यत्वमपि द्रव्यत्वव्याप्यमित्युक्तदोषतादवस्थ्यमतो द्रव्यत्वभिन्नेति निवेश्यम् । ज्ञानसमवायिकारणात्मवृत्त्यात्मत्वजातिमादायात्मनि अतिव्याप्तिवारणाय द्रव्यपदम् ।

मूले विशेषगुण इष्यते इति । विशेषगुणाश्च—

'बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ।
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः' । इति वक्ष्यमाणा बोध्याः

योग्यविशेषगुणेति । यत्र प्रतियोगितासम्बन्धेन योग्यविभुविशेषगुणनाशः तत्र

ज्ञानलक्षणसन्निकर्षसे ज्ञानका भी 'चाक्षुष प्रत्यक्ष' होना चाहिए क्योंकि बहिरिन्द्रयग्राह्य जातीयज्ञानवत्त्व आत्मामें है । अतः लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष होगा । उसे दूर करनेके लिए लौकिक प्रत्यक्षकी स्वरूपयोग्यता ही ग्राह्य मानी जायेगी जिससे 'ज्ञातो घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष स्थल में ज्ञानका भी ज्ञानलक्षणा सन्निकर्षसे तादृशज्ञानवत्त्वके आत्मा में रहने पर भी अतिव्याप्ति नहीं होती । और न तो प्रत्यक्ष न होने वाले रूपके आश्रय परमाणुमें अव्याप्ति ही होती है । क्योंकि प्रत्यक्षकी स्वरूपयोग्यता तो उसमें भी है । प्रत्यक्ष तो इसलिए नहीं होता कि प्रत्यक्ष होनेका जो दूसरा कारण है 'महत्त्व' वह परमाणु और द्व्यणुक आदि में नहीं है ।

अथवा भूतत्व का निर्दुष्ट लक्षण है–'आत्मामें रहने वाले विशेष गुणों वाला' । चत्वारि पद की व्याख्या करते हैं कि पृथिवी, जल, तेज और वायुका साधर्म्य स्पर्शवत्ता है अर्थात् स्पर्श इन सबमें रहता है ॥ २६ ॥

पृथ्वी, जल, तेज और वायुमें द्रव्यारम्भकत्व अर्थात् द्रव्यका समवायिकारण होना ही साधर्म्य है । और आकाश तथा शरीरी (जीवात्मा) में अव्याप्यवृत्ति क्षणिक विशेष गुणवत्त्व साधर्म्य है ।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चारोंमें द्रव्यारम्भकत्व साधर्म्य है । यदि द्रव्यारम्भका अर्थ किया जाय कि 'किसी द्रव्यको आरम्भ करने वाला' तब तो घटमें किसी भी दूसरे द्रव्यको आरम्भ करनेकी वह शक्ति नहीं है जैसी परमाणुमें द्व्यणुक और कपालमें घट बनाने की है । जिससे अव्याप्ति होगी । अतः द्रव्यारम्भकका अर्थ है 'द्रव्यसमवायिकारणद्रव्यत्व-व्याप्यजातिमत्त्व' अर्थात् द्रव्य के समवायिकारण में रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति

र्म्यम् । न च द्रव्यानारम्भके घटादावव्याप्तिः, द्रव्यसमवायिकारणवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् ।

आकाशशरीरिणामिति । आकाशात्मनामव्याप्यवृत्तिक्षणिकविशेषगुणवत्त्वं साधर्म्यमित्यर्थः। आकाशस्य विशेषगुणः शब्दः, स चाव्याप्यवृत्तिर्यदा किञ्चिदवच्छेदेन शब्द उत्पद्यते तदाऽन्यावच्छेदेन तदभावस्यापि सत्त्वात्। क्षणिकत्वं च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम् । योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वात्प्रथम-

---

स्वसामानाधिकरण्य स्वाव्यवहित पूर्ववतित्वोभयसम्बन्धेन योग्यविभुविशेषगुणः इति सामानाधिकरण्येन नाशकत्वं बोध्यम् । कार्यतावच्छेदके योग्यत्वानिवेशे प्रायश्चित्तादिजन्यादृष्टनाशे व्यभिचारः स्यादतस्तन्निवेशितम् । योग्यत्वं च लौकिकसाक्षात्कारविषय—निर्विकल्पकान्यतरत्वम् तच्चादृष्टे नास्तीति न दोषः । रूपादिनाशे व्यभिचारवारणाय विभ्विति । संयोगनाशे व्यभिचारवारणाय विशेषेति ।

पृथिवीत्व आदि उन जातियों वाला घट है अतः दोष नहीं है। द्रव्यत्वव्याप्यजातिमान् आत्मा भी है उसमें लक्षण न जाय अतः लक्षणमें वृत्त्यन्त पद भी दे दिया। अपना व्याप्य स्वयं भी होता है। इस नियमके आधार पर द्रव्यत्व भी द्रव्यत्वव्याप्य होगा अतः द्रव्यत्वभिन्न भी लक्षणमें निवेश करना चाहिए।

आकाश और आत्माके अव्याप्यवृत्ति विशेषगुणत्व और क्षणिक विशेषगुणत्व रूप दो प्रकारके साधर्म्य हैं। आकाशका विशेषगुण शब्द है। (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रव, अदृष्ट (धर्म-अधर्म) भावना और शब्द इन्हें विशेषगुण भी कहा जाता है।) वह अव्याप्यवृत्ति है। क्योंकि जब किसीसे (जैसे शंखसे) शब्द जिस कालमें उत्पन्न हुआ उसी कालमें घटमें वह शब्द नहीं है। अतः अव्याप्यवृत्ति है। क्षणिकत्वका तात्पर्य है कि—जो तीसरे क्षणमें ध्वंसका प्रतियोगी हो। अर्थात् तीसरे क्षणमें नष्ट होता हो उसे क्षणिक कहते हैं। 'योग्य, विभुके विशेषगुणोंका नाश उनके आनेवाले गुणोंसे होता है' इस नियमके कारण प्रथम शब्दका द्वितीय शब्दमें नाश हो जाता है। इस प्रकार प्रथम ज्ञानका भी द्वितीय ज्ञानसे नाश होता है। ज्ञान भी जिस आत्मारूपी विभुमें जिस शरीरमें उत्पन्न होता है उसी कालमें घटमें ज्ञानाभाव भी रहता ही है। तब इसी प्रकार ज्ञान भी दो क्षण ही स्थायी रहता है। अर्थात् कोई भी ज्ञान प्रथम क्षणमें उत्पन्न होता है दूसरे क्षण स्थिर रहता है और तीसरे क्षण विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार अव्याप्यवृत्तिविशेष गुणवान् और क्षणिकविशेषगुणवान् यह अर्थ मूलकारिकाका होता है।

शब्दस्य द्वितीयशब्देन नाशः। एवं ज्ञानादीनामपि। ज्ञानादिकं यदाऽऽत्मनि विभौ शरीराद्यवच्छेदेनोत्पद्यते तदा घटाद्यवच्छेदेन तदभावोऽस्त्येव। एवं ज्ञानादिकमपि क्षणद्वयावस्थायि। इत्थं चाव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्वं क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं चार्थः। पृथिव्यादौ रूपादिविशेषगुणोऽस्तीत्यतोऽव्याप्यवृत्तीत्युक्तम्। पृथिव्यादावव्याप्यवृत्तिः संयोगादिरस्तीत्यतो विशेषगुणेत्युक्तम्।

न च रूपादीनामपि कदाचित्तृतीयक्षणे नाशसम्भवात्क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं क्षित्यादावतिव्याप्तमिति वाच्यम्, चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वस्य तदर्थत्वात्। अपेक्षाबुद्धिः क्षणत्रयं तिष्ठति, क्षणचतुष्टयं तु न किमपि जन्यज्ञानादिकं तिष्ठति।

चतुःक्षणवृत्तीति। चतुःक्षणवृत्तीनि यानि जन्यानि घटादीनि तदवृत्तिर्जातिर्ज्ञानत्वादिः तद्वान् विशेषगुणो ज्ञानादिः, तद्वत्त्वमात्मादाविति लक्षणसमन्वयः।

ननु प्रथमोपस्थितत्वात्त्रिक्षणवृत्तीत्येव वक्तव्ये चतुःक्षणवृत्तीति कथनं किमर्थमत आह—अपेक्षाबुद्धिः क्षणत्रयमिति।

अत्रेदं बोध्यम्, प्रथमम्, अयमेकः अयमेकः इत्येवंरूपा अपेक्षाबुद्धिः ततो द्वित्वोत्पत्तिः, ततो विशेषणज्ञानं द्वित्वत्वनिर्विकल्पात्मकम्, ततो द्वित्वत्वविशिष्टद्वित्वप्रत्यक्षम् अपेक्षाबुद्धिनाशश्च, ततो द्वित्वनाशः, इति प्रक्रिया।

एवं च अपेक्षाबुद्धिः क्षणत्रयं तिष्ठति। यद्यपि जन्यज्ञानानां द्विक्षणमात्रस्थायित्वं 'योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वनियमात्' तथापि अपेक्षाबुद्धे-

---

पृथ्वी आदिमें रूपादि विशेषगुण हैं किन्तु वे व्याप्यवृत्ति हैं। अतः अव्याप्यवृत्ति कहकर अतिव्याप्ति बचा ली गई। पृथिवीमें संयोग अव्याप्यवृत्ति है। अतः विशेषगुण कहकर अतिव्याप्ति बचाई गई। संयोग विशेष गुण नहीं है।

यदि पृथ्वीके रूप आदि गुणोंका कदाचित् तीसरे क्षणमें ही नाश सम्भव हो जाय तब तो क्षणिकविशेषगुणवत्त्वकी पृथिवीमें भी अतिव्याप्ति होगी? नहीं, क्षणिकविशेषगुणवत्त्वका अर्थ है—चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व। जैसे—चतुःक्षणवृत्ति जो जन्य-घट आदि उनमें न रहनेवाली जाति ज्ञानत्व आदि जातियां इन जातियों वाला विशेषगुण-ज्ञान और ज्ञानवान् आत्मा इस प्रकार लक्षणसमन्वय हो गया।

अपेक्षा-बुद्धि तीन क्षण रहती है। कोई भी जन्यज्ञान आदि चार क्षण नहीं रहते। प्रक्रिया इस प्रकार है—पहले यह एक इस प्रकार अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है, तब द्वित्वकी उत्पत्ति, तब द्वित्वत्वनिर्विकल्पकरूप विशेषणज्ञान, तब द्वित्वत्वविशिष्टद्वित्वका

रूपत्वादिकं तु क्षणचतुष्टयस्थायिन्यपि रूपादौ वर्तत इति तद्व्युदासः। ईश्वरज्ञानस्य चतुःक्षणवृत्तित्वाज्ज्ञानत्वस्य तद्वृत्तित्वाज्जन्येत्युक्तम्। यद्याकाशजीवात्मनोः साधर्म्यं तदा जन्येति न देयम्। द्वेषत्वादिकमादाय लक्षणसमन्वयात्, परममहत्त्वस्य तादृशगुणत्वाच्चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमाद् द्वित्वादीनामपि तथात्वात्त-

---

द्विक्षणमात्रावस्थायित्वे द्वित्वत्वनिर्विकल्पककालेऽपेक्षाबुद्धेर्नाशे तदनन्तरं द्वित्वस्यैव नाशाद् विषयाभावेन द्वित्वस्य प्रत्यक्षं न स्यादतस्त्रिक्षणावस्थायित्वं कल्प्यते इति।

ज्ञानत्वादेर्जन्यवृत्तित्वादसम्भववारणाय चतुःक्षणवृत्तीति। चतुःक्षणवृत्त्यवृत्तीत्याद्युक्तौ ईश्वरज्ञानस्य नित्यतया चतुःक्षणवृत्तित्वेन ज्ञानत्वस्यातादृशत्वात्तदादाय समन्वयो न स्यादतो जन्येति। चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिपरममहत्त्वत्वजातिमद्गुणवत्त्वस्य कालादौ सत्त्वादतिव्याप्तिरतो विशेषेति।

ननु परममहत्त्वत्वं न जातिः किन्तु अपकर्षानाश्रयपरिमाणत्वमित्युक्तं, तथा च कथं तदादायातिप्रसङ्ग इत्यत आह—चतुर्थक्षण इति।

प्रत्यक्ष, तब अपेक्षाबुद्धिका नाश और उसके बाद द्वित्वका नाश होता है। तथापि 'योग्यविभुके विशेषगुणोंका अपने उत्तरवर्त्ती गुणोंसे नष्ट होनेका नियम है' अतः जन्यज्ञानोंको दो क्षण ही स्थायी होना चाहिए तथापि यदि अपेक्षाबुद्धिको दो क्षण तक ही माने तब द्वित्वत्वके निर्विकल्पक प्रत्यक्षकालमें अपेक्षाबुद्धिके नाश हो जानेसे उसके बाद द्वित्वका ही नाश हो जायगा और द्वित्वरूप विषयके नाश हो जानेके कारण द्वित्वका प्रत्यक्ष भी नहीं होगा। इसलिए अपेक्षाबुद्धिको तीन क्षण तक स्थायी मानते हैं।

रूपत्व तो चार क्षण तक स्थायी रहनेवाले रूपमें रहता है। अतः अतिव्याप्ति नहीं हुई। ईश्वरका ज्ञान चार क्षण (अनन्त क्षण) रहता है, ज्ञानत्व भी उस ज्ञानमें है। अतः अतिव्याप्ति रोकनेके लिए जन्यपदका लक्षणमें प्रवेश किया गया है। यदि आकाश और जीवात्माका ही यह साधर्म्य है तब तो जन्यपद देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि ज्ञानत्व जातिको छोड़कर क्षणद्वयमात्रावस्थायी द्वेष आदि गुणोंमें रहनेवाली द्वेषत्व जातिको लेकर जीवात्मामें लक्षण समन्वय हो जायगा। यदि इस लक्षणमें विशेषपदका निवेश नहीं करते तो चतुःक्षणवृत्ति जन्यमें अवृत्तिपरममहत्त्वत्वजातिमान् परममहत्-परिणाम गुण, यह गुण कालमें है जिससे अतिव्याप्ति होती। अतः विशेष पद दिया।

यदि परममहत्त्वत्वको जाति न मानकर कालमें अतिव्याप्ति वारित भी कर ली जाय तब भी चतुर्थ क्षणमें द्वित्व आदिका नाश तो सर्वमान्य ही है। फिर चतुःक्षणवृत्ति जो रूपादि उसमें अवृत्ति जो द्वित्वत्वजातिवाला द्वित्व वह नवों द्रव्योंमें है अतः अतिव्याप्ति बचानेके लिए विशेष पद देना आवश्यक ही है। अथवा इस लक्षणमें चतुःक्षणके स्थानपर

द्वारणाय विशेषेति। त्रिक्षणवृत्तित्वं वा वाच्यम्। द्वेषत्वादिकमादायात्मनि लक्षणसमन्वयः ॥ २७ ॥

रूपद्रवत्वप्रत्यक्षयोगिनः प्रथमास्त्रयः।
गुरुणी द्वे रसवती द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः ॥ २८ ॥

पृथिव्यप्तेजसां रूपवत्त्वं, द्रवत्ववत्त्वं, प्रत्यक्षविषयत्वं च साधर्म्यमित्यर्थः। न च चक्षुरादीनां भर्जनकपालस्थवह्नेरूष्मणश्च रूपवत्त्वे किं मानमिति वाच्यम्, तत्रापि तेजस्त्वेन रूपानुमानात्। एवं वाय्वानीतपृथिवीजलतेजोभागानामपि पृथिवीत्वादिना रूपानुमानं बोध्यम्।

प्रथमोपस्थितत्वरूपलाघवमभिसन्धायाह—त्रिक्षणवृत्तित्वं वेति। त्रिक्षणवृत्त्यवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वमिति लक्षणं निष्पन्नम्।

न चैवं त्रिक्षणवृत्तिजन्याऽपेक्षाबुद्धिः, तद्वृत्तिरेव ज्ञानत्वम् इति कथं तदादाय समन्वय इति वाच्यम्, द्वेषत्वजातेस्तथात्वेन तामादाय लक्षणसमन्वयात्।

न च परमेश्वरे द्वेषाभावात्तत्र लक्षणसमन्वयो न स्यादिति वाच्यम्, आकाशजीवात्मनोः साधर्म्यमित्युक्ततया परमेश्वरे लक्षणागमनेऽपि क्षत्यभावात्। यदि च परमात्मनोऽपि साधर्म्यमभिमतं तदा त्रिक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वमिति विवक्षणेन ईश्वरेच्छाया नित्यत्वेन त्रिक्षणवृत्तित्वेऽपि जन्येच्छायास्त्रिक्षणवृत्तित्वाभावेन इच्छात्वमादाय लक्षणसमन्वय इति बोध्यम्।

एवं च द्वेषत्वमादायेति पाठः, इच्छात्वमादायेति पाठश्च रम्य इति तत्त्वम् ॥ २७ ॥

त्रिक्षणवृत्ति जोड़ देनेपर भी समन्वय हो जायगा। जैसे त्रिक्षणवृत्ति जो रूपादि उसमें अवृत्ति जो द्वेषत्वजाति और शब्दत्वजाति इन जातियोंवाला विशेषगुण इच्छा और शब्द वे क्रमशः आत्मा और आकाशमें रहते ही हैं ॥ २७ ॥

पृथ्वी, जल और तेज इन प्रारम्भिक तीनों द्रव्योंमें रूपवत्त्व, द्रवत्ववत्त्व और प्रत्यक्षयोगित्व साधर्म्य है। पृथ्वी और जलमें गुरुत्व और रसवत्त्व साधर्म्य है और पृथ्वी तथा तेजमें नैमित्तिक द्रवत्व भी साधर्म्य है।

पृथ्वी, जल और तेजमें रूपवत्त्व, द्रवत्वत्व और प्रत्यक्षविषयत्व साधर्म्य है। यद्यपि तैजस इन्द्रिय नेत्र, भाड़में भूजनेवाले पात्रस्थ वह्नि और गर्मीके रूपवत्ताके प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं तथापि इन सबोंमें तेजके रहनेके कारण रूपका अनुमान कर लिया जाता है। अनुमानका आकार—चक्षुः, रूपवत्, तेजस्त्वात्। भर्जनकपालस्थो वह्निः, रूपवान्, तेजस्त्वात्। ऊष्मा, रूपवान्, तेजस्त्वात् इसी प्रकार वायुके साथ उड़कर आए हुए पृथ्वी, जल

न च घटादौ द्रुतसुवर्णादिभिन्ने तेजसि च द्रवत्ववत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यम्, द्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। घृतजतुप्रभृतिषु पृथिवीषु, जलेषु, द्रुतसुवर्णादौ तेजसि, च द्रवत्वसत्त्वात्तत्र च पृथिवीत्वादिसत्त्वात्तदादाय सर्वत्र लक्षणसमन्वयः।

न च प्रत्यक्षविषयत्वं परमाण्वादावव्याप्तमतिव्याप्तं च रूपादाविति वाच्यम्, चाक्षुषलौकिकप्रत्यक्षविषयवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय चाक्षुषेति।

चाक्षुषलौकिकप्रत्यक्षेति। घटो वायुमानिति वाय्वंशे ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या चाक्षुषविषयवायुवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यवायुत्वजातिमति वायावतिव्याप्तिवारणाय लौकिकेति॥

और तेजके भागोंमें भी पृथ्वीत्व आदिके रहनेके कारण उनमें रूप होनेका भी 'दाव्यानीत-पृथिव्यादिभागः, रूपवान्, पृथिवीत्वात्'—अनुमान कर लिया जाता है। घट और पिघले हुए सोनेको छोड़कर शेष तेजमें द्रवत्ववत्त्व नहीं है अर्थात् द्रवत्व नहीं है अतः लक्षण में अव्याप्तिदोष नहीं लग सकता। क्योंकि द्रवत्ववान्में रहनेवाला द्रव्यत्वव्याप्यजातिमान् ही द्रवत्ववत्त्व पदका अर्थ है। द्रवत्ववद् वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजाति पृथिवीत्व आदि जाति वह जाति घट आदिमें है। अतः लक्षणसमन्वय हो गया। इसी प्रकार घी, लाह आदि पृथ्वीमें, जलमें और पिघले हुए सुवर्णरूप तेजमें द्रवत्वके और पृथिवीत्व आदि जातियोंके रहनेके कारण सर्वत्र लक्षणसमन्वय हो जाता है।

(पृथिवी आदि द्रव्योंका प्रत्यक्षविषयत्वरूप साधर्म्य माना गया है वह ठीक नहीं क्योंकि) प्रत्यक्षविषयता परमाणुरूप पृथ्वीमें न रहनेके कारण अव्याप्ति और रूप आदिमें अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि परमाणुमें प्रत्यक्षविषयत्व नहीं है और रूपमें है। ठीक है?

किन्तु प्रत्यक्षविषयत्वका अर्थ है—चाक्षुषप्रत्यक्षके विषय (घट-पट आदि) में वृत्ति जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति (पृथ्वीत्व, जलत्व और तेजस्त्व) इन जातियोंवाला। फिर परमाणुमें पृथ्वीत्वादि जाति रहनेसे लक्षणसमन्वय होगा, रूपमें नहीं, अतः अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष नहीं होंगे। इस लक्षणमें यदि चाक्षुष पद न दिया जाय तो लौकिक प्रत्यक्षविषय आत्मामें वृत्ति जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति आत्मत्व इस जातिवाला आत्मा है जिससे आत्मामें अतिव्याप्ति न होगी। चाक्षुष पदके रहनेसे आत्मा चाक्षुषप्रत्यक्षका विषय नहीं होता अतएव अतिव्याप्ति नहीं होती। लौकिक पदके न रखने से 'घटो वायुमान्' इस ज्ञानके वायु अंशमें ज्ञानलक्षणासन्निकर्षचाक्षुषविषयवायुवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यवायुत्वजातिमान् वायु होनेसे अतिव्याप्ति होगी अतः लौकिक पद दिया। ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष तो अलौकिक प्रत्यक्ष है।

गुरुणी इति। गुरुत्ववत्त्वं रसवत्त्वं च पृथिवीजलयोरित्यर्थः। न च घ्राणेन्द्रियादीनां वाय्वानीतपार्थिवादिभागानां च रसादिमत्त्वे किं मानमिति वाच्यम्, तत्रापि पृथिवीत्वादिना तदनुमानात्।

द्वयोरिति। पृथिवीतेजसोरित्यर्थः। न च नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्वं घटादौ वह्न्यादौ चाव्याप्तमिति वाच्यम्, नैमित्तिकद्रवत्वसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्॥ २८॥

आत्मानो भूतवर्गाश्च विशेषगुणयोगिनः।

पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मनां विशेषगुणवत्त्वं साधर्म्यमित्यर्थः।

यदुक्तं यस्य साधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्य तत्॥ २९॥

ज्ञेयत्वादिकं विहायेति बोध्यम्। तत्तु न कस्यापि वैधर्म्यं, केवलान्वयित्वात्॥ २९॥

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।

स्पर्शादयोष्टाविति। अयमत्र संग्रहः—

गुरुत्ववत्त्व और रसवत्त्व पृथ्वी और जलमें साधर्म्य है। घ्राण इन्द्रिय और वायुसे उड़ाए हुए पार्थिव भागमें रस है इसमें प्रमाण है अनुमान। जैसे वाय्वानीत पृथ्वी भाग रसवान् है क्योंकि उसमें भी पृथ्वी है। इस प्रकारके अनुमानसे उस भागमें रस का रहना सिद्ध हो जाता है।

पृथ्वी और तेज इनका साधर्म्य है नैमित्तिकद्रवत्व। यद्यपि नैमित्तिक द्रवत्ववत्त्व घटरूप पृथ्वीमें और अग्निरूपी तेजमें नहीं है अतः अव्याप्तिकी शंका होती है तथापि नैमित्तिकद्रवत्वके अधिकरणमें जो द्रव्यत्वव्याप्य (पृथ्वीत्व आदि) जाति उस जातिवाला घट भी है अतः इस प्रकारके अर्थसे कोई दोष नहीं है॥ २८॥

आत्मा और भूतोंमें विशेषगुणयोगित्वरूप साधर्म्य है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मामें विशेषगुणवत्त्व साधर्म्य है।

मैंने इतने प्रकारसे सब द्रव्योंका साधर्म्य बताया है यदि वैधर्म्य जाननेकी इच्छा हो तो जिनके साथ जिसका साधर्म्य कहा है वह दूसरेका वैधर्म्य होगा।

किन्तु ज्ञेयत्व आदि धर्मोंको छोड़कर ही वैधर्म्य समझना चाहिए। क्योंकि ज्ञेयत्व किसी भी धर्मका वैधर्म्य नहीं है। जो धर्म केवलान्वयी होते हैं वे वैधर्म्य नहीं होते। ज्ञेयत्व केवलान्वयी है॥ २९॥

स्पर्श आदि आठ (स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व)

स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः ॥ ३० ॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम् ।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश ॥ ३१ ॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश ।
बुद्ध्यादिषट्कं सङ्ख्यादिपञ्चकं भावना तथा ॥ ३२ ॥
धर्माधर्मौ गुणा एते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश ।
सङ्ख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे ॥ ३३ ॥
सङ्ख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे ।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे ॥ ३४ ॥

ते च खे आकाशे ॥ ३०-३४ ॥

साधर्म्यवैधर्म्ये निरूप्य सम्प्रति प्रत्येकं पृथिव्यादिकं निरूपयति—

वायोर्नवैकादश तेजसो गुणा जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश ।
दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च' ॥इति ॥ ३०-३४॥

और वेग नामका संस्कार ये नव गुण वायुमें रहते हैं। इसी प्रकार स्पर्शसे आठ, और रूप, वेग, द्रवत्व ये ग्यारह गुण तेजमें रहते हैं ॥ ३० ॥

स्पर्श आदि आठ, वेग, गुरुत्व (सांसिद्धिक) द्रवत्व, रूप, रस और स्नेह ये चौदह गुण जलके हैं ॥ ३१ ॥

इन ऊपर कहे हुए चौदह गुणोंमेंसे स्नेहके स्थानपर गन्ध गिन लेनेसे पृथ्वीमें रहनेवाले १४ गुण जाने जाते हैं। बुद्धिसे छः (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,) संख्यासे पांच (संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग), भावना, धर्म और अधर्म ये १४ गुण आत्माके हैं। संख्यासे लेकर पांच गुण, काल और दिशाके गुण हैं। संख्यादि पांच और शब्द ये गुण आकाशमें रहते हैं ॥ ३२-३३ ॥

संख्यासे लेकर पांच, बुद्धि, इच्छा और यत्न ये ईश्वरके गुण हैं और परत्व, अपरत्व संख्यासे लेकर पांच और वेग ये मनके गुण हैं ॥ ३४ ॥

इस प्रकार साधर्म्य वैधर्म्य बता चुकनेके बाद अब पृथ्वी आदि द्रव्योंके, एक-एकके क्रमसे निरूपण करते हैं—

तत्र क्षितिर्गन्धहेतुर्नानारूपवती मता।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः ॥ ३५ ॥

गन्धहेतुरिति। गन्धसमवायिकारणमित्यर्थः। यद्यपि गन्धवत्त्व-

गन्धहेतुत्वस्य पृथिवीलक्षणत्वाङ्गीकारे कालादावतिव्याप्तिरत आह—गन्धसमवायिकारणमित्यर्थ इति।

तथा च गन्धत्वावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावत्वं पृथिव्या लक्षणं निष्पन्नम्।

ननु सुरभ्यसुरभिकपालाभ्यामारब्धो घटो निर्गन्ध एव न हि तत्र सुरभिगन्ध उत्पत्तुमर्हति, समवायेन सुरभिगन्धं प्रति स्वसमावायिसमवेतत्वसम्बन्धेन सुरभिगन्धातिरिक्तगन्धत्वेन प्रतिबन्धकत्वात्। न वा असुरभिगन्धः, समवायेन असुरभिगन्धं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन असुरभिगन्धातिरिक्तगन्धत्वेन प्रतिबन्धकत्वात्। न वा चित्रगन्धस्तस्य, प्रामाणिकैरनभ्युपगमात्तत्र गन्धवत्त्वोपलम्भश्चावयवगन्धेनैवेति तादृशघटे गन्धसमवायिकारणत्वस्याभावेनाव्याप्तिरिति चेद्?

न, स्वरूपयोग्यतारूपकारणतायास्तत्र सत्वेनादोषाद्, पदार्थतत्वनिरूपणे शिरोमणिभिः तादृशघटे अव्याप्यवृत्तिगन्धोत्पत्तेरेवाभिमततया फलोपधायकतारूपकारणतायास्तत्र सत्वाच्च।

न च व्याप्यवृत्त्यव्याप्यवृत्तिजातीययोर्विरोधः, मानाभावात्। उक्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावश्च हेय एव, गौरवात्। एतेन चित्ररूपमपि प्रत्याख्यातं वेदितव्यम्।

गन्धवत्त्वमात्रमिति। 'नन्नूत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठती'ति नियमात् उत्पत्तिकालिके घटे गन्धवत्त्वाभावादव्याप्तिरिति चेद्?

इन द्रव्योंमें पृथ्वी द्रव्य गन्धका समवायिकारण है। अनेकरूपवाली है उसमें छः प्रकारके रस रहते हैं और गन्ध दो प्रकारका रहता है।

गन्धहेतुका अर्थ है—गन्धसमवायिकारण। अन्यथा गन्धके कारण कालमें भी अतिव्याप्ति वारणके लिए गन्धसमवायिकारण अर्थ किया गया। काल समवायिकारण नहीं किन्तु निमित्तकारण है।

यद्यपि गन्धवालीको पृथ्वी कहते हैं इतने भरसे पृथ्वीका लक्षण बन जाता है तथापि पृथिवीत्व जातिको प्रामाणिक सिद्ध करनेके हेतु 'हेतु'पद मूलकारिकामें लिखा गया है।

'उत्पन्न द्रव्य क्षणभर क्रिया और गुणके बिना ही रहता है' इस नियमके अनुसार 'गन्धवाली को पृथ्वी कहते हैं' यह लक्षण उत्पत्तिकालके घटमें नहीं जायगा। वहाँ तो उस कालमें कोई गुण ही नहीं है। ठीक है। किन्तु गन्धवालीमें रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्य पृथ्वीत्व जाति यह तात्पर्य मानने पर तो वह उत्पत्ति कालके घटमें भी है। अतः अव्याप्ति नहीं हो सकती।

मात्रं लक्षणमुचितं, तथापि पृथिवीत्वजातौ प्रमाणोपन्यासाय कारणत्वमुपन्यस्तम्। तथा हि—पृथिवीत्वं हि गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति अन्यथा गन्धत्वत्वाच्छिन्नस्याकस्मिकत्वापत्तेः।

न, गन्धवत्त्वमित्यनेन गन्धवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षणेनादोषात्। द्रव्यत्वव्याप्यजलत्वजातिमादाय जलेऽतिव्याप्तिवारणाय वृत्त्यन्तम्। सत्तामादाय जलादावतिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वव्याप्येति। गन्धवत्त्वं वृत्तिमत्त्वं च समवायेन। अन्यथा कालिकेन गन्धवत्त्वस्य जलादौ सत्त्वेन तत्समवेतां, गन्धवति घटे कालिकेन वृत्तिमतीं वा जलत्वजातिमादायातिव्याप्तिस्तदवस्थैव स्यात्।

ननु 'इयं पृथिवी' इत्यनुगता प्रतीतिः घृतजतुप्रभृतिषु नास्तीति न तथा पृथिवीत्वजातिसिद्धिसम्भव इति पृथिवीत्वजातौ किं प्रमाणमिति चेद्? उच्यते, 'समवायेन गन्धं प्रति तादात्म्येन पृथिवी कारणमि'ति कार्यकारणभावात् समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना पृथिवीनिष्ठाकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् इत्यनुमानेन पृथिवीत्वजातिसिद्धिः।

ननूक्तकार्यकारणभावे किम्मानमिति चेद्? न, उक्तकार्यकारणभावानङ्गीकारे गन्धत्वावच्छिन्नस्याकस्मिकत्वापत्त्या जलादावपि गन्धोत्पादप्रसङ्गात्।

ननु गन्धवत्त्वस्य पृथिवीलक्षणत्वे पाषाणेऽव्याप्तिरिति चेत्? न, पाषाणो गन्धवान्, पृथिवीत्वात्, पुष्पवत् इत्यनुमानेन तत्रापि गन्धसिद्धेः।

ननु तस्य पृथिवीत्वे एव किम्मानमिति चेत्? पाषाणः पृथिवी, गन्धवद्द्रव्यारब्धत्वात् घटवत् इत्यनुमानमेव गृहाण।

ननु पाषाणावयवानां गन्धवत्त्वे किम्मानमिति चेद्? न, पाषाणावयवा गन्धवन्तः, गन्धवद्द्रव्यारम्भकत्वात् इत्यनुमानस्यैव मानत्वात्।

घी, लाह आदिमें 'यह पृथ्वी है' इस प्रकारका ज्ञान नहीं होता इसलिए पृथिवीत्व जातिकी सिद्धि इस अनुगतप्रतीतिसे नहीं हो सकती। फिर पृथ्वीत्वजातिमें प्रमाण क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें केवल इतना कहना है कि 'समवायसम्बन्धसे गन्धके प्रति तादात्म्यसम्बन्धसे पृथिवीकारण है' इस प्रकार कार्यकारणभाव माननेसे अनुमान द्वारा पृथ्वीत्व जाति सिद्ध हो सकती है। जैसे समवाय सम्बन्धसे अवच्छिन्न गन्धत्वावच्छिन्न जो कार्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना पृथ्वीनिष्ठा कारणता वह किसी धर्मसे अवच्छिन्न (विशिष्ट) है क्योंकि कारणता है। जो कारणता होती है वह किसी धर्मसे अवश्य विशिष्ट होती है। वह धर्म यहां पृथ्वीत्व है। इस प्रकार अनुमान द्वारा पृथ्वीत्व जाति सिद्ध होती है इस प्रकारका कार्यकारणभाव अवश्य मानना पड़ेगा, नहीं, तो, गन्ध आकस्मिक होगा और जलमें भी गन्धकी उत्पत्ति होने लगेगी। गन्धवत्त्वको लक्षण माननेसे पत्थरमें गन्ध न रहने पर

न च पाषाणादौ गन्धाभावाद्गन्धवत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यं, तत्रापि गन्धसत्त्वात् । अनुपलब्धिस्त्वनुत्कटत्वेनाप्युपपद्यते । कथमन्यथा तद्भस्मनि गन्ध उपलभ्यते ? भस्मनो हि पाषाणध्वंसजन्यत्वात्पाषाणोपादानोपादेयत्वं सिद्ध्यति । 'यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमि'ति व्याप्तेः । दृष्टं चैतत्खण्डपटे महापटध्वंसजन्ये । इत्थं च पाषाणपरमाणोः पृथिवीत्वात्तज्जन्यस्य पाषाणस्यापि पृथिवीत्वम् । तथा च तस्यापि गन्धवत्त्वे बाधकाभावः ।

ननु भस्मनः पाषाणावयवारब्धत्वे किं मानमिति चेत् ? भस्म पाषाणोपादानोपादेयं पाषाणध्वंसजन्यत्वात, 'यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयं' महापटध्वंसजन्यखण्डपटवदिति ब्रूमः ।

यद्द्रव्यमिति । घटध्वंसप्रत्यये घटोपादानानुपादेये व्यभिचारवारणाय प्रथमं द्रव्यपदम् । अथवा घटध्वंसजन्यरूपध्वंसे व्यभिचारवारणाय तत । दण्डप्रागभावध्वंसस्य दण्डरूपतया तज्जन्ये घटे, नवीनमते दण्डप्रागभावध्वंसस्य दण्डरूपत्वानङ्गीकारेण दण्डजन्यघटादौ व्यभिचारासम्भवे तु मिथ्याज्ञानध्वंसजन्यकायव्यूहे व्यभिचारवारणाय द्वितीयं द्रव्यपदम् । प्रतिबन्धकद्रव्यात्यन्ताभावजन्ये द्रव्ये व्यभिचारवारणाय ध्वंसपदम् ।

ननु पाषाणो गन्धवान् , पृथिवीत्वादित्यनुमानं न सम्भवति, निर्गन्धघटे व्यभिचारादिति चेत् ? न सुरभ्यसुरभिकपालाभ्यामारब्धेऽपि घटे गन्धवत्त्वस्य नव्यैरङ्गीकारेण व्यभिचाराभावात् ।

केचित्तु पाषाणः पृथिवी, गन्धवदुपादानोपादेयत्वादित्यनुमानेन पाषाणे पृथिवीत्वं साधयित्वा गन्धवत्त्वमित्यस्य गन्धवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वपरिष्कारेण पाषाणे लक्षणसमन्वयं वदन्ति ।

भी अव्याप्ति नहीं होगी । क्योंकि 'पाषाणः गन्धवान् , पृथ्वीत्वात , पुष्पवत् इस अनुमानसे पाषाणमें भी गन्धसिद्ध है । पत्थरके पृथ्वी होनेमें भी अनुमान ही प्रमाण है । जैसे='पाषाण', पृथ्वी, गन्धवद्द्रव्यारम्भत्वात , घटवत् । पाषाणके अवयवोंमें गन्धके बारेमें भी अनुमान ही प्रमाण है । जैसे 'पाषाणावयवाः, गन्धवन्तः, गन्धवद्भस्मद्रव्यारम्भकत्वात' यह अनुमान ही प्रमाण है । उत्कट गन्ध न होनेसे गन्धकी प्रतीति नहीं होती । यदि गन्ध न माने तो भस्ममें गन्धकी प्रतीति नहीं होगी । अतः भस्म पाषाणके अवयवसे बना है यह भी अनुमानसे ही सिद्ध होगा । जैसे भस्म, पाषाणोपादानोपादेयं पाषाणध्वंसजन्यत्वात क्योंकि जो द्रव्य जिस द्रव्यके ध्वंससे जन्य है वह उसका उपादानोपादेय है महापटध्वंसजन्य खण्डपटकी तरह । इस प्रकार पाषाणके परमाणु पृथ्वी है तो उससे उत्पन्न पाषाण भी पृथ्वी है । फिर पाषाणमें गन्ध होनेमें कोई बाधा नहीं है ।

नानारूपेति। शुक्लनीलादिभेदेन नानाजातीयं रूपं पृथिव्यामेव वर्तते न तु जलादौ, तत्र शुक्लस्यैव सत्वात्। पृथिव्यां तु एकस्मिन्नपि धर्मिणि पाकवशेन नानारूपसम्भवात्। न च यत्र नानारूपं नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिरिति वाच्यं, रूपद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्वस्य रूपनाशवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य वा वाच्यत्वात्। वैशेषिकनये पृथिवीपरमाणौ रूपनाशस्य रूपान्तरस्य च सत्वात्। न्यायनये घटादावपि तत्सत्वाल्लक्षणसमन्वयः।

रूपद्वयेति। रूपद्वयवान् घटादिस्तद्वृत्तिर्द्रव्यत्वव्याप्या जातिः पृथिवीत्वं तद्वत्वं पटादौ इति लक्षणसमन्वयः। द्रव्यत्वव्याप्यजलत्वजातिमादाय जलेऽतिव्याप्तिवारणाय वृत्यन्तम्। रूपद्वयवद्वृत्तिसत्ताजातिमादाय जलादावतिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वव्याप्येति। रूपद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजलपृथिव्यन्यतरत्वमादाय जलेऽतिव्याप्तिवारणाय जातीति।

वृत्तिमत्वं जातिमत्वं च समवायेनैव विवक्षितम्। अन्यथा जलत्वं पृथिवीत्वं चादाय जलेऽतिव्याप्तिः स्यात्।

नन्वेवं रूपद्वयवति समवायेन जलपृथिव्यन्यतरत्वं न वर्तत इत्यत एव दोषवारणसम्भवे जातीति व्यर्थमिति चेत्? न, रूपद्वयवति समवायेन वर्तमानं जलपृथिव्युभयत्वमादायैव प्रसक्तातिव्याप्तिवारणार्थत्वात्।

ननु रूपद्वयेति लक्षणे रूपनिष्ठं द्वित्वं न सङ्ख्यारूपं, गुणे गुणानङ्गीकारात्, किन्तु अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपं, तथा च अपेक्षाबुद्धीनां नानात्वेन इदं लक्षणं गुरु, इति गौरवान्नाशघटितं लघुलक्षणमाह—रूपनाशेति।

शुक्ल, नील आदि भेदवाला अनेक प्रकारका रूप पृथ्वीमें ही रहता है जल आदि में नहीं। जलमें तो केवल शुक्लरूप ही रहता है। पृथ्वीमें तो किसी भी एक व्यक्तिमें (वस्तुमें) पाकके वशसे अनेक रूप उत्पन्न होते हैं। (यहाँ यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि) जिस पृथ्वीमें अनेक रूप उत्पन्न नहीं हुए वहाँ अव्याप्ति होगी। नहीं, क्योंकि दो प्रकारके रूपवाले पदार्थमें रहनेवाली द्रव्यत्वव्याप्य जातिवाला होना ही नानारूपवाला होना है। जैसे दो रूपवाले घटमें रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्या पृथिवीत्वजाति है वह ही जाति पटमें भी है अतः एकरूपवाले पटमें लक्षणसमन्वय होनेसे अव्याप्ति दोष नहीं है। किन्तु इस प्रकार लक्षण माननेसे दोष पड़ता है। क्योंकि रूपमें वर्तमान जो द्वित्व है वह संख्यारूप नहीं माना जा सकता। संख्यारूप माननेसे गुणमें गुणोत्पत्ति होने लगेगी। अतः वह द्वित्व अपेक्षाबुद्धि विशेषविषयत्वरूप मानना होगा और अपेक्षा बुद्धियोंके नाना होनेके कारण यह लक्षण गुरु होगा। अतः रूपनाशवाली पृथ्वीमें रहनेवाली द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवी

षड्विध इति। मधुरादिभेदेन यः षड्विधो रसः स पृथिव्यामेव। जले च मधुर एव रसः। अत्रापि पूर्ववद्रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणार्थोऽवसेयः।

वैशेषिकनये पृथिवीपरमाणौ पाकेन रूपनाशस्य रूपान्तरोत्पादस्य चाङ्गीकारात् न्यायनये घटे पृथिवीपरमाणौ च तयोरभ्युपगमात् रूपनाशवान्पृथिवीपरमाणुः, तद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्या जातिः पृथिवीत्वं पटादाविति लक्षणसमन्वयः।

जलत्वमादायातिव्याप्तिवारणाय वृत्यन्तम्। सत्तामादाय जलादावतिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वव्याप्येति।

वृत्तित्वं जातिमत्त्वं च समवायेन बोद्धयम्। तद्वयावृत्तिश्च पूर्ववद्बोध्या इति।

ननु यत्र नाना रसा नोत्पन्नास्तत्राव्याप्तिरत आह—रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमिति।

रसद्वयवदाम्रफलम्, तद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यपृथिवीत्वजातिमादाय एकरसवति गुडादौ समन्वयः। व्यावृत्तिः पूर्ववत्।

जातिवाला होना ही नानारूपवत्त्वका अर्थ मानना चाहिए (वैशेषिक तथा न्यायशास्त्रमें रूप बदलनेके विषयमें मतभेद है।) वैशेषिकोंके मतसे पृथ्वीके परमाणुमें ही एक रूपका नाश होकर दूसरा रूप उत्पन्न होता है। (१)

न्यायमतसे पूर्वघटके नाश हुए बिना घटमें ही परमाणु पर्यन्त जितने भी अवयव या अवयवी हैं सबमें एक साथ ही दूसरा रूप उत्पन्न होता है।

तात्पर्य है कि दोनों मतों में रूपनाश और रूपान्तर की उत्पत्ति मानी गई है अतः लक्षण समन्वय हो गया।

मधुर आदि अनेक भेदों वाला जो छः प्रकारका रस है वह छहों प्रकारका रस तो केवल पृथ्वीमें ही रहता है। जलमें मधुर ही रस रहता है। इस लक्षणमें भी पहले लक्षणकी तरह दो रसोंमें रहनेवाली या रसनाशमें रहनेवाली द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवीत्व जाति वाला होना ही अर्थ समझना चाहिए। दो रसवाले आम और एक रसवाले गुड़में लक्षण समन्वय है।

---

(१) ये सीधे घट में पाक नहीं मानते। इनका कहना है कि कुम्भारके आँवोंमें पड़ा हुआ घट नष्ट हो जाता है और प्रत्येक परमाणु में पाक होता है फिर नया घट उत्पन्न होता है। और जैसे घटमें कपालसमवायिकारण, दो कपालोंका संयोग असमवायिकारण और दण्डादिक निमित्तकारण है। वैसे आँवोंमें बननेवाले घटमें भी परमाणु समवायिकारण, तेजःसंयोग असमवायिकारण, अदृष्ट निमित्तकारण है। और द्व्यणुक आदिके रूपमें कारण-का रूप ही असमवायिकारण है यह वैशेषिकोंका मत है। इन्हें पीलुपाकवादी भी कहा जाता है।

गन्धस्त्विति। द्विविध इति वस्तुस्थितिमात्रं, न द्विविधगन्धवत्त्वं लक्षणं, द्विविधत्वस्य व्यर्थत्वात्। द्वैविध्यं च सौरभासौरभभेदेन बोध्यम् ॥ ३५ ॥

स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः।

तस्याः पृथिव्याः। अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं वायोरपि वर्तत इत्युक्तं पाकज इति। इत्थं च पृथिव्याः स्पर्शोऽनुष्णाशीत इति ज्ञापनार्थं तदुक्तम्। वस्तुतस्तु पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रं लक्षणम्, अधिकस्य वैयर्थ्यात्। यद्यपि पाकजस्पर्शः पटादौ नास्ति तथापि पाकजस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमर्थो बोध्यः।

अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपद्वित्वघटितत्वेन गौरवानुसन्धाने अत्रापि रसनाशवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमित्येवं लक्षणं बोध्यम्। यद्यपि षड्विधस्तु रसस्तत्रेति मूलेन षड्विधरसवद्वृत्तीत्याद्येव लक्षणं प्रतीयते, तथापि द्वित्वापेक्षया षट्त्वस्य गुरुत्वात्यक्तं मुक्तावलीकृतेति विज्ञेयम्।

ननु गन्धस्य पृथिव्यामेव सत्त्वेन गन्धवत्त्वमात्रस्यैव लक्षणत्वं युक्तं न तु द्विविधगन्धवत्त्वस्येत्यत आह—द्विविध इति वस्तुस्थितिमात्रमिति ॥ ३५ ॥

पाकजस्पर्शवदिति। जलत्वमादाय जलादावतिव्याप्तिवारणाय वृत्त्यन्तम्। सत्तामादाय तत्रैवातिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वव्याप्येति। जलपृथिव्युभयत्वमादाय तत्रैवातिव्याप्तिवारणाय जातीति। तत्रैवातिव्याप्तिवारणाय पाकजेति।

पृथ्वीमें दो प्रकारके गन्ध रहते हैं। यह कहना भी केवल वस्तुस्थितिका कथन है न कि 'दो गन्धवाली होती है पृथ्वी' इस प्रकार पृथ्वीका लक्षण बताना। क्योंकि द्विविध पद का देना व्यर्थ हो जायगा। गन्ध सौरभ और असौरभ भेदसे दो प्रकार का होता है ॥ ३५॥

पृथ्वीका स्पर्श अनुष्णाशीत (न ठण्डा। न गरम) और पाक से जन्य होता है।

इसकी व्याख्या करते हैं कि तस्याः = उस पृथ्वीका। अनुष्णाशीतस्पर्श वायुका भी है अतः 'पाकज' कहा गया है। वायुका स्पर्श पाकज नहीं होता। इस प्रकार पृथ्वीका स्पर्श अनुष्णाशीत होता है यह बताने मात्रके लिए अनुष्णाशीत विशेषण दिया। वास्तवमें पाकजन्य स्पर्शवाली पृथ्वी होती है इतना मात्र ही पृथ्वीका लक्षण होना चाहिए। अधिक विशेषण तो व्यर्थ है। यद्यपि पटमें स्पर्श पाकज नहीं रहता तथापि पाकजस्पर्शवालेमें रहनेवाली द्रव्यत्व व्याप्य पृथ्वीत्व जातिवाला होना ही इस लक्षणका तात्पर्य है। इस प्रकार पटमें पृथ्वीत्व जातिके रहनेसे लक्षण समन्वय हो गया।

नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा ॥ ३६ ॥
अनित्या तु तदन्या स्यात्सैवावयवयोगिनी ।
सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥ ३७ ॥

सा पृथिवी द्विविधा, नित्या अनित्या चेत्यर्थः । अणुलक्षणा परमाणुरूपा पृथिवी नित्या । तदन्या परमाणुभिन्ना पृथिवी द्व्यणुकादिरूपा सर्वाऽप्यनित्येत्यर्थः । सैव—अनित्या पृथिव्येव, अवयववतीत्यर्थः ।

ननु अवयविनि किं मानं, परमाणुपुञ्जैरेवोपपत्तेः । न च परमाणूनामतीन्द्रियत्वाद्घटादेः प्रत्यक्षं न स्यादिति वाच्यम् , एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वात् । यथैकस्य केशस्य दूरेऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वम् । न चैको घटः स्थूल इति बुद्धेरनुपपत्तिरिति वाच्यम् , एको महाधान्यराशिरितिवदुपपत्तेः ।

ननु पृथिवीत्वजातिमत्त्वमपि पृथिवीलक्षणं सम्भवति, तत्कथं त्यक्तमिति चेद् ?

वह पृथ्वी नित्य और अनित्य रूपसे दो प्रकार की होती है। परमाणुरूपा पृथ्वी नित्य और अन्या (कार्यरूपा) अनित्य है और यह ही अवयववाली भी है। पुनः अवयववती पृथ्वी तीन प्रकार की है एक शरीर, दूसरी, इन्द्रिय और तीसरी विषय।

इसकी व्याख्या स्वयं करते हैं। वह पृथ्वी दो प्रकार की है एक नित्य और दूसरी अनित्य। परमाणुरूपा पृथ्वी नित्य है। और उससे (परमाणुसे) भिन्न पृथ्वी जो द्व्यणुकके रूपमें है वह सब अनित्य है। वह अनित्य पृथ्वी ही अवयववाली भी है।

अवयववाली कहनेसे अवयवी पृथ्वी सिद्ध होती है। इस पर बौद्धोंका कहना है कि अवयवी माननेसे क्या लाभ जब कि परमाणुपुञ्जोंसे ही काम चल जाता है। इस पर यह शंका उठती है कि परमाणु तो इन्द्रियोंसे दिखाई नहीं पड़ते फिर परमाणुपुञ्ज घट भी प्रत्यक्ष नहीं होगा ? किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि एक परमाणुका भले ही प्रत्यक्ष न हो किन्तु परमाणु-समूहके प्रत्यक्ष होनेमें कोई बाधा नहीं है। जैसे एक केश (बाल) दूरसे नहीं दिखाई पड़ता फिर भी केशोंका, समूह दिखाई पड़ता है। हाँ, परमाणुपुञ्जवादियोंके मतसे एक घट स्थूल है, यह प्रतीति नहीं होगी यह शङ्का कर सकते हैं किन्तु जैसे एक एक धान्यसे बनी अनाजोंकी राशिको 'एक और बड़ी धान्यकी राशि है' इस प्रकार एक और बड़ा कहते है वैसे ही एक और स्थूल यह ज्ञान भी बन जायगा।

मैवं, परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षायोग्यत्वात्। दूरस्थकेशस्तु नातीन्द्रियः, सन्निधाने तस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। न च तदानीमदृश्यपरमाणुपुञ्जाद् दृश्यपरमाणुपुञ्जस्योत्पन्नत्वान्न प्रत्यक्षत्वे विरोध इति वाच्यम्, अदृश्यस्य दृश्यानुपादानत्वात्। अन्यथा चक्षु-रूष्मादिसन्ततेरपि कदाचित् दृश्यत्वप्रसङ्गात्। न चातितप्ततैलादौ कथमदृश्यदहनसन्ततेर्दृश्यदहनोत्पत्तिरिति वाच्यम्, तत्र तदन्तः-पातिभिर्दृश्यैरेव दहनावयवैः स्थूलदहनोत्पत्तेरुपगमात्। न चादृश्येन द्व्यणुकेन कथं दृश्यत्रसरेणोरुत्पत्तिरिति वाच्यं, यतो न दृश्यत्वम-दृश्यत्वं वा कस्यचित्स्वभावादाचक्ष्महे किन्तु महत्त्वोद्भूतरूपादि-कारणसमुदायवशाद् दृश्यत्वं तदभावे चादृश्यत्वम्। तथा च त्रसरे-णोर्महत्त्वात्प्रत्यक्षत्वं न तु द्व्यणुकादेस्तदभावात्। न हि त्वन्मतेऽपि सम्भवतीदं, परमाणौ महत्त्वाभावात्। इत्थं चावयविसिद्धौ तेषामुत्पा-दविनाशयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वादनित्यत्वम्।

न, पृथिवीत्वस्य लक्ष्यतावच्छेदकत्वेन लक्षणत्वासम्भवात्।

किन्तु बौद्धों का यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय है अतः उनका समूह भी प्रत्यक्षके योग्य नहीं है। यहाँ केशका दृष्टान्त नहीं, क्योंकि दूरमें स्थित केश अतीन्द्रिय नहीं है क्योंकि समीपमें उसका भी प्रत्यक्ष होता है। अदृश्यपरमाणुपुञ्जसे दृश्य परमाणुपुञ्जकी उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकती। क्योंकि अदृश्यसे दृश्यकी उत्पत्ति भी नहीं होती है। यदि मान लीजिए कि अदृश्यसे दृश्यकी उत्पत्ति होती है तब अनुद्भूतरूप वाले तेजरूप चक्षुका और उसमें रहनेवाली अनुद्भूत (अप्रकट) रूपवाली गर्मीकी परम्पराका भी कदाचित् प्रत्यक्ष होने की बात सिद्ध होने लगेगी। और न यह ही कहा जा सकता है कि अत्यन्त गरम तेल आदिमें अदृश्य अग्निकी धारासे दृश्य (ज्वालाके रूपमें) अग्निकी उत्पत्ति कैसे हो जाती है। क्योंकि उस गरम तेलमें भीतर जानेवाले दृश्य अग्निके अवयवोंसे ही स्थूल अग्निकी उत्पत्ति होती है। और यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिए कि अदृश्य द्व्यणुकसे दृश्य त्रसरेणु की उत्पत्ति कैसे हो जाती है। क्योंकि कोई भी वस्तु स्वभावतः दृश्य या अदृश्य हो यह बात नहीं है किन्तु महत्व (महत्परिमाण) और उद्भूतरूप आदि कारण समुदायके होने पर दृश्यत्व और न होने पर अदृश्यत्व माना गया है। इसलिए त्र्यणुक का महत्परिमाण होनेसे प्रत्यक्ष होता है और द्व्यणुकका महत्परिमाणके न रहने से प्रत्यक्ष नहीं होता। तुम्हारे (बौद्धके) मतमें तो यह बात नहीं बन सकती, क्योंकि तुमने परमाणुपुञ्जका प्रत्यक्ष माना है जब कि उसमें प्रत्यक्षका कारण म

तेषां चावयवावयवधाराया अनन्तत्वे मेरुसर्षपयोरपि साम्यप्रसङ्गः। अतः क्वचिद्विश्रामो वाच्यः। यत्र तु विश्रामस्तस्यानित्यत्वेऽसमवेतभावकार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति तस्य नित्यत्वम्। महत्परिमाणतारतम्यस्य गगनादौ विश्रान्तत्वमिवाणुपरिमाणतारतम्यस्यापि क्वचिद्विश्रान्तत्वमस्तीति तस्य परमाणुत्वसिद्धिः। न च त्रसरेणावेव विश्रामोऽस्त्विति वाच्यं, त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धौ, त्रसरेणोरवयवाः सावयवाः महदारम्भकत्वात् कपालवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धेः। न चेदमप्रयोजकम्,

---

मेरुसर्षपयोरिति। साम्यं परिमाणतारतम्याभावः, परिमाणप्रचयकारणीभूतावयवसङ्ख्याया उभयत्र साम्यादिति भावः। न च मेर्ववयवानां सर्षपतुल्यपरिमाणवत्त्वं न तु सर्षपावयवानां सर्षपतुल्यपरिमाणवत्त्वमित्यवयवपरिमाणाद्विशेष इति वाच्यम् मेर्ववयवसर्षपावयवयोरप्यनन्तत्वेन यत्परिमाणतारतम्याभावस्याप्यापादनीयत्वात्।

त्पमाण है ही नहीं। इस प्रकार अवयवी जब सिद्ध हो गया तब उसके उत्पन्न और विनष्ट होनेके कारण उनका उत्पत्ति और विनाश भी प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः अवयवी अनित्य सिद्ध होता है।

उस अवयव-धाराको अनन्त माननेसे मेरु पर्वत और सरसोंके परिमाणकी समानता हो जायगी। क्योंकि दोनों के अवयव अनन्त होंगे इसलिए कहीं विश्राम करना चाहिए। और जहाँ अवयवधाराकी समाप्ति होती है यदि उसे अनित्य माना जाय तो बिना समवायिकारण के भी भावकार्य की उत्पत्ति होने लगेगी। इसलिए अन्तिम अवयव को नित्य मानते हैं। जैसे महत्परिमाणके तारतम्यका आकाशादिमें विश्राम है वैसे अणुपरिमाणके न्यूनतर, न्यूनतमरूप तारतम्यका विश्राम जहाँ है वही परमाणु है।

यह नहीं कहना चाहिए कि त्रसरेणुमें ही तारतम्यका विश्राम है। क्योंकि अनुमानसे त्रसरेणुसावयव सिद्ध हैं (जैसे त्रसरेणु सावयव है चाक्षुषद्रव्य होनेसे, घट की तरह) इस अनुमानसे त्रसरेणुमें अवयव सिद्ध हुआ और इसी प्रकार 'त्रसरेणुके अवयव भी सावयव हैं, महत्के आरम्भक होनेके कारण, कपालकी भाँति इस अनुमानसे अवयवकी सिद्धि हो जाती है। अतः त्रसरेणु अन्तिम अवयव नहीं सिद्ध होता है। फिर त्रसरेणुके अवयव का अवयव परमाणु सिद्ध हुआ। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि महदारम्भक रूपहेतु अप्रयोजक है (व्यभिचार शंकानिवर्तक तर्करहित है) क्योंकि अपकृष्टमहत्त्वके प्रति अनेक द्रव्यवत्त्व प्रयोजक (कारण) है। यहाँ अनेकद्रव्यवत्त्वका अर्थ अनेक द्रव्यसमवेतत्व नहीं है किन्तु अनेक द्रव्य समवेत समवेतत्व है। जैसे—अनेक द्रव्य परमाणुद्वय उसमें समवेत

अपकृष्टमहत्त्वं प्रत्यनेकद्रव्यवत्त्वस्य प्रयोजकत्वात् । न चैवं क्रमेण तदवयवधाराऽपि सिध्येदिति वाच्यम्, अनवस्थाभयेन तदसिद्धेरिति ।

सा चेति । सा कार्यरूपा पृथिवी त्रिधा शरीरेन्द्रियविषयभेदादित्यर्थः ॥ ३६-३७ ॥

तत्र देहमुदाहरति—

योनिजादि भवेद्देहमिन्द्रियं घ्राणलक्षणम् ।
विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः ॥ ३८ ॥

योनिजमयोनिजं चेत्यर्थः । योनिजमपि द्विविधं जरायुजमण्डजं च । जरायुजं मानुषादीनाम् । अण्डजं सर्पादीनाम् । अयोनिजं स्वेदजोद्भिज्जादिकम् । स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः । उद्भिज्जास्तरुगुल्माद्याः । नारकिणां शरीरमप्ययोनिजम् ।

अनेकद्रव्यवत्त्वस्येति । अनेकद्रव्यसमवेतत्वं नानेकद्रव्यवत्त्वं, द्व्यणुके महत्त्वोत्पादप्रसङ्गात् । किन्तु अनेकद्रव्यसमवेतत्वमेव तत् । समन्वयश्च अनेकद्रव्यं परमाणुद्वयं, तत्समवेतं द्व्यणुकं, तत्समवेतस्त्रसरेणुरिति बोध्यम् ।

द्वाभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकं, त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्रसरेणुर्जायते इति प्रक्रिया । त्रसरेणुपदं च त्रिभिर्द्व्यणुकैरारब्धे रूढम् । यद्वा त्रिभिस्संहितो रेणुस्त्रसरेणुरिति पृषोदरादित्वात्साधुरिति बोध्यम् ॥ ३६-३७ ॥

द्व्यणुक और उसमें समवेत त्रसरेणु । इसलिए द्व्यणुकमें महत्त्वकी उत्पत्ति नहीं हुई । इस प्रकार प्रयोज्य-प्रयोजकभाव ही अनुकूल तर्क है । इस प्रकार परमाणुओंमें अवयवोंकी धारा नहीं सिद्ध हो सकती क्योंकि तब तो अनवस्था हो जायगी । अतः अन्तिम अवयव परमाणु है यह सिद्ध हुआ ।

वह कार्यरूपा पृथ्वी तीन प्रकारकी है शरीर, इन्द्रिय और विषयके भेदसे ॥ ३६-३७ ॥

उनमें (तीनोंमें) देहका उदाहरण देते हैं ।

योनिज और अयोनिज दो प्रकारके देह होते हैं । घ्राण आदि इन्द्रिय पृथ्वीके कहे गए हैं । विषय द्व्यणुकसे लेकर ब्रह्माण्ड तक है ।

योनिज और अयोनिज दो प्रकारके देह होते हैं । योनिज देह भी दो प्रकारका है । एक जरायुज (गर्भकी झिल्लीसे जन्य) और दूसरा अण्डज (अण्डेसे उत्पन्न होनेवाला) जरायुज देह मनुष्य, पशु आदिके और अण्डज, देव, सर्प, पक्षी आदिके होते हैं । अयोनिज कई प्रकारके होते हैं । जैसे स्वेदज (पसीनासे उत्पन्न होनेवाले) जूका, लिक्ष, आदि

न च मानुषादिशरीराणां पार्थिवत्वे किं मानमिति वाच्यं, गन्धादिमत्त्वस्यैव प्रमाणत्वात् । न च क्लेदोष्मादेरुपलम्भादाप्यत्वादिकमपि स्यादिति वाच्यं, तथा सति जलत्वपृथिवीत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात् । न च तर्हि जलीयत्वादिकमेवास्तु न तु पार्थिवत्वमिति वाच्यं, क्लेदादीनां विनाशेऽपि शरीरत्वेन प्रत्यभिज्ञानाद् गन्धाद्युपलब्धेश्च पृथिवीत्वसिद्धेः । तेन पार्थिवादिशरीरे जलादीनां निमित्तत्वमात्रं बोध्यम् ।

शरीरत्वं तु न जातिः, पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यात् , किन्तु चेष्टाश्र-

---

जलत्वपृथिवीत्वादिना सङ्करप्रसङ्गादिति । पृथिवीत्वाभाववति तडागजले जलत्वं, जलत्वाभाववति घटे पृथिवीत्वं, मनुष्यशरीरे जलत्वपृथिवीत्वयोः समावेशात् परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणधर्मयोरेकत्र समावेशरूपसङ्करदोषप्रसङ्गः स्यादित्यर्थः ।

शरीरत्वं तु न जातिः, पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यादिति । पृथिवीत्वाभाववति जलीयशरीरे शरीरत्वं, शरीरत्वाभाववति घटादौ पृथिवीत्वं, मनुष्यशरीरे पृथिवीत्वशरीरत्वयोः समावेशात्सङ्करः स्यादित्यर्थः ।

और उद्भिज्ज (भूमिको फोड़कर निकलनेवाले, जैसे पेड़, भूफोर, क्षत्राक आदि) । इसी प्रकार नारकियोंके देह भी अयोनिज ही हैं ।

यहाँ यह पूछना ठीक नहीं कि मनुष्य आदिके देहके पार्थिव होनेमें क्या प्रमाण है ? क्योंकि गन्धवत्त्व होना ही इसमें प्रमाण है । मनुष्यके देहमें पसीना (स्वेद) और उष्णता आदिके रहनेसे वह जलीय या तैजस भी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि ऐसा माननेपर पृथ्वीत्व और जलत्व जाति से सङ्कर हो जायगा । जैसे जहाँ पृथिवीत्व नहीं है उस सरोवरके जलमें जलत्व है और जहाँ जलत्व नहीं है उस घटमें पृथिवीत्व है किन्तु मनुष्य देहमें जलत्व और पृथिवीत्व दोनोंके होनेसे एक दूसरेके अत्यन्ताभावके अधिकरणमें रहनेवाले धर्मोंका कहीं एक स्थानपर रहना ही सांकर्य माना गया है । इसपर यह कहा जा सकता है कि मनुष्यका देह जलीय ही मान लिया जाय पार्थिव न माना जाय किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि स्वेदके नष्ट हो जानेपर भी शरीरकी पहिचानसे ('यह वही देवदत्त है' इस प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानसे) और गन्ध आदिकी प्राप्तिसे मनुष्यके देहको पार्थिव ही मानना चाहिए । इस प्रकार (मनुष्यदेहके पार्थिव सिद्ध हो जाने पर) उसमें जल, तेज, वायु और आकाशको निमित्तमात्र समझ लेना चाहिए ।

किन्तु शरीरत्व जाति नहीं हैं । क्योंकि पृथिवीत्व आदिसे साङ्कर्य हो जायेगा । जैसे जहाँ पृथ्वीत्व नहीं है उस जलीय शरीरमें शरीरत्व है और शरीरत्व जहाँ नहीं है उस घटमें पृथ्वीत्व है । मनुष्य-शरीरमें पृथ्वीत्व और शरीरत्व दोनों रहनेसे सङ्कर हो जायेगा । इसलिए चेष्टाके आश्रयको शरीर कहते हैं । वृक्ष भी शरीरी है उसमें भी चेष्टा

यत्वम्। वृक्षादीनामपि चेष्टासत्त्वान्नाऽव्याप्तिः। न च वृक्षादेः शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम्, आध्यात्मिकवायुसम्बन्धस्य प्रमाणत्वात्। तत्रैव किं मानमिति चेद्? भग्नक्षतसंरोहणादिना तदनुमानात्। यदि हस्तादौ शरीरव्यवहारो न भवति तदाऽन्त्यावयवित्वेन विशेषणीयम्। न च यत्र शरीरे चेष्टा न जाता तत्राव्याप्तिरिति वाच्यं, तादृशे प्रमाणाभावात्। अथवा चेष्टावदन्त्यावयविवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्, अन्त्यावयविमात्रवृत्तिचेष्टावद्वृत्तिजातिमत्त्वं वा तत्। मानुषत्वचैत्रत्वादिजातिमादाय लक्षणसमन्वयः।

अन्त्यावयवित्वेन विशेषणीयमिति। तथा च अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वमिति लक्षणं निष्पन्नम्। अन्त्यावयवित्वं च द्रव्यानारम्भकद्रव्यत्वम्।

ननु घटादावपि क्रियासत्त्वात्तत्रातिव्याप्तिरेवेति चेत्? न, चेष्टापदेन हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया, न तु क्रियामात्रमित्यदोषात्।

मृतशरीरेऽव्याप्तिरत आह—अथवेति।

ननु मृतशरीरेऽपि पूर्वं चेष्टासत्त्वाल्लक्षणसमन्वयान्नाव्याप्तिरिति चेत्? न, यत्र मरणानन्तरं खण्डशरीरान्तरमुत्पन्नं तत्राव्याप्तिरित्याशयात्।

चेष्टावदिति। घटत्वमादाय घटेऽतिव्याप्तिवारणाय चेष्टावदिति। हस्तत्वमादाय हस्तेऽतिव्याप्तिवारणाय अन्त्यावयवेति।

होती है अतः अव्याप्ति दोष भी इस लक्षणमें नहीं है। यहाँ यह शङ्का करना उचित नहीं कि वृक्षके शरीर होनेमें क्या प्रमाण है? क्योंकि वृक्षमें भी अध्यात्म वायुका (प्राण वायुका) रहना ही प्रमाण है। वृक्षमें प्राणवायुके रहनेमें क्या प्रमाण है? इस प्रश्नका उत्तर तो स्पष्ट है, क्योंकि पेड़ोंके टूट जाने या घाव लग जाने पर उनका भराव (पूर्ति) हो जानेसे अनुमान द्वारा प्राणवायु मानते हैं। अनुमानका आकार—'वृक्षः प्राणवायुवान्, भग्नक्षतसंरोहणात्, मानवदेहवत्' यदि हाथ आदि अवयवोंमें देह शब्दका व्यवहार न होता हो तो 'अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयत्वम्' इतना बड़ा लक्षण मान लेना चाहिए। हाथ-पैर अन्त्यावयवी नहीं है अतः अतिव्याप्ति नहीं होती। अन्त्यावयवी पदका अर्थ है 'द्रव्यानारम्भकद्रव्यत्वम्' अर्थात् जो द्रव्य किसी द्रव्यको न आरम्भ करता हो। किन्तु घटके अन्त्यावयवी और क्रियाका आश्रय होनेके कारण इस लक्षणकी घटमें अतिव्याप्ति होगी, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि इस लक्षणमें 'चेष्टा' पदका अर्थ है 'हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारके लिए क्रिया'। घटकी क्रिया इस प्रकार नहीं है अतः अतिव्याप्ति भी नहीं होती। यह भी शङ्का ठीक नहीं कि जिस शरीरमें चेष्टा नहीं उत्पन्न हुई है उसमें अव्याप्ति होगी। क्योंकि ऐसे चेष्टारहित देह होते ही नहीं हैं। यदि चेष्टारहित मृत देहमें अव्याप्ति कहा

न च नृसिंहशरीरे कथं लक्षणसमन्वयः, तत्र नृसिंहत्वस्यैकव्यक्तिवृत्तितया जातित्वाभावाज्जलीयतैजसशरीरवृत्तितया देवत्वस्यापि जातित्वाभावादिति वाच्यं, कल्पभेदेन नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्या लक्षणसमन्वयात्।

इन्द्रियमिति। घ्राणेन्द्रियं पार्थिवमित्यर्थः। पार्थिवत्वं कथमिति चेत्? इत्थम्, घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात्, कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत्। न च दृष्टान्ते स्वकीयरूपा-

---

न च हस्तत्वं न जातिः, पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यादिति वाच्यम्, पृथिवीत्वादिव्याप्यनानाघटत्ववत् पृथिवीत्वादिव्याप्यनानाहस्तत्वाङ्गीकारेणादोषात्। सत्तामादायातिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वव्याप्येति।

ननु तादृशपृथिवीत्वजातिमादाय घटादावतिप्रसङ्गो दुर्वार इत्यत आह—अन्त्यावयविमात्रवृत्तीति। अन्त्यावयविमात्रवृत्ति चेष्टावद्वृत्ति च मनुष्यत्वं चैत्रत्वं वा, तद्वत्त्वं चैत्रशरीरे इति लक्षणसमन्वयः। द्रव्यत्वमादायातिव्याप्तिवारणाय प्रथमं वृत्त्यन्तम्। घटत्वमादायातिव्याप्तिवारणाय द्वितीयं वृत्त्यन्तम्।

न च नृसिंहशरीर इति। बाल्ययौवनाद्यवस्थाभेदेन चैत्रशरीरस्य नानात्वेन चैत्रत्वस्य नैकव्यक्तिवृत्तित्वं नृसिंहशरीरस्य तु नित्यत्वेन नानात्वासम्भवादेकत्वमिति अनेकव्यक्तिवृत्तित्वाभावात् नृसिंहत्वं जातिरिति भावः।

जाय तो उक्त लक्षणका 'चेष्टावाले अन्त्यावयवीमें रहनेवाली द्रव्यत्वव्याप्य जातिवाला होना' या 'अन्त्यावयवीमात्रमें रहनेवाली और चेष्टावालेमें रहनेवाली जातिवाला होना' यह तात्पर्य मान लेना चाहिए। मनुष्यत्व और चैत्रत्व जातिको मानकर लक्षण-समन्वय हो जायगा। हाँ 'यह शङ्का हो सकती है कि नृसिंहके शरीरमें लक्षण-समन्वय कैसे होगा? क्योंकि इस नृसिंह देहमें वर्तमान नृसिंहत्व तो एक व्यक्तिमें रहता है और जो एक व्यक्ति (विष्णुके अवतार) मात्रमें वृत्ति है वह जाति नहीं मानी जाती। देहके दोनों लक्षणोंमें 'जातिवाला हो' यह कहा गया है फिर नृसिंह देहमें किसी भी जातिके न रहनेसे इस लक्षणकी अव्याप्ति होगी और यदि देवत्व जातिके द्वारा काम चलाया जाय तो वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि देवत्व भी जलीय देह और तैजसदेहमें रहनेके कारण जातिरूप नहीं माना जा सकता। ठीक, किन्तु कल्पके भेदसे अनेक कल्पोंके नृसिंह देह भी नाना (अनेक) हैं। अतः नृसिंहत्व जाति भी सिद्ध है फिर लक्षण समन्वय होनेमें कोई बाधा नहीं है।

घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है। घ्राणेन्द्रियके पार्थिव होनेमें क्या प्रमाण है? सुनिये, घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है क्योंकि रूप आदि गुणोंमेंसे केवल गन्धकी ही व्यञ्जक है। जैसे कुकुमके गन्धका व्यञ्जक गायका घी। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि दृष्टान्त

दिव्यञ्जकत्वादसिद्धिरिति वाच्यं, परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वस्य तदर्थ-त्वात्। न च नवशरावगन्धव्यञ्जकजलेऽनैकान्तिकत्वमिति वाच्यं, तस्य सक्तुरसाभिव्यञ्जकत्वात्। यद्वा परकीयेति न देयम्, वायूपनीतसुरभि-भागस्य दृष्टान्तत्वसम्भवात्। न च घ्राणेन्द्रियसन्निकर्षस्य गन्धमात्र-व्यञ्जकत्वात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यं, द्रव्यत्वे सतीति विशेषणात्।

विषय इति। उपभोगसाधनं विषयः। 'सर्वमेव हि कार्यजातम-दृष्टाधीनम्'। यत्कार्यं यददृष्टाधीनं तत्तदुपभोगं साक्षात्परम्परया वा जनयत्येव। न हि बीजप्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति। तेन द्व्यणुकादिब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव विषयो भवति। शरीरेन्द्रिययोर्विषय-त्वेऽपि प्रकारान्तरोपन्यासः शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थः॥ ३८॥

घ्राणेन्द्रियसन्निकर्षस्येति। स्वसंयुक्तसमवायरूपस्येत्यर्थः। परकीयेति विशेषणप्र-देप एव पूर्वलक्षणे गौरवमिति बोध्यम्॥ ३८॥

गायका घी उचित नहीं, क्योंकि घी केवल कुंकुमके गन्धका ज्ञापक नहीं है किन्तु अपने रूपका बोधक भी है। इसलिए असिद्धि दोष होगा, ठीक है. किन्तु तात्पर्य यह है कि दूसरेके रूप आदिका व्यञ्जक न होना। अपने रूपका व्यञ्जक न होना यह अर्थ नहीं है। इसलिए 'मिट्टीके नए वर्तन के गन्धके अभिव्यञ्जक जलमें उक्त हेतुका व्यभिचार होगा' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जल सक्तुके रसका भी अभिव्यञ्जक होता है। अतः उक्त हेतु जलमें न रहनेके कारण व्यभिचारी नहीं है। इस लक्षणमें परकीय पद नहीं देना चाहिए और वायुसे उड़ाए हुए सुगन्धित अंशको दृष्टान्त बनाया जा सकता है: यह भी कहना उचित नहीं कि घ्राणेन्द्रियका जो गन्धके साथ स्वसंयुक्त समावायरूप सन्निकर्ष वह भी केवल गन्धमात्रका अभिव्यञ्जक है। उसमें भी उक्त हेतुका व्यभिचार होगा। अतः 'द्रव्यत्वे सति' यह विशेषण लगा देनेसे दोष हट जाता है। लक्षण का अन्तिमरूप 'द्रव्यत्वे सति गन्धमात्रव्यञ्जकत्वम्।' है

उपभोगके साधनको विषय कहते हैं 'समस्त कार्य अदृष्टके अधीन है' जो उत्पन्न हुई वस्तु जिस अदृष्टके अधीन है वह उसके उपभोगको साक्षात् या परम्परा सम्बन्धसे अवश्य उत्पन्न करती है। क्योंकि बीज (कारण) और प्रयोजनके बिना किसीकी भी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए द्व्यणुकसे लेकर ब्रह्माण्ड तक जितने हैं सब विषय हैं। यद्यपि शरीर और इन्द्रिय भी विषय है पर शिष्योंकी बुद्धि बढानेके लिए उनको दूसरे प्रकारसे कहा गया है॥

जलं निरूपयति—

वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ ।
स्नेहस्तत्र, द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया जलत्वजातिः सिद्ध्यति । यद्यपि स्नेहत्वं नित्यानित्यवृत्तितया न कार्यतावच्छेदकं, तथापि जन्यस्नेहत्वं तथा बोध्यम् ।

ननु जलत्वजातौ किम्प्रमाणम् 'इदं जलम् इदं जलम्' इति प्रतीतेः पामराणां हिमादिष्वभावादिति चेद् ? उच्यते—समवायेन स्नेहं प्रति तादात्म्येन जलं कारणमिति कार्यकारणभावात् समवायसम्बन्धावच्छिन्नस्नेहत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना जलनिष्ठा कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, इत्यनुमानेन स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकविधया जलत्वं जातिः सिध्यति ।

ननु स्नेहनिष्ठकार्यतावच्छेदकत्वं स्नेहत्वस्य न सम्भवति, अन्यूनानतिप्रसक्तधर्मस्यैव अवच्छेदकत्वनियमेन स्नेहत्वस्य नित्यानित्यवृत्तितया कार्यताऽतिरिक्तवृत्तित्वात् । एवं च स्नेहत्वावच्छिन्नकार्यत्वाप्रसिद्ध्या तन्निरूपितकारणतारूपपक्षाप्रसिद्धौ नोक्तानुमानसम्भव इति चेद् ? न, स्नेहत्वस्यातिप्रसक्तत्वेऽपि जन्यस्नेहत्वस्यानतिप्रसक्ततया समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यस्नेहत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना जलनिष्ठा कारणता, किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात् इत्यनुमानेन जलत्वजातिसिद्धिसम्भवात् । नन्वेवमपि परमाणौ जन्यस्नेहाभावेन जन्यस्नेहत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतायास्तत्राभावेन जलत्वस्य कारणताऽतिरिक्तवृत्तितया न सिद्धिसम्भवः, किन्तु जन्यजलत्वस्यैव ।

जलका निरूपण करते हैं ।

जलमें वर्ण (रूप) शुक्ल, रस मधुर, स्पर्श शीतल, स्नेह तथा सांसिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्व भी कहा गया है ।

स्नेहकी समवायिकारणताके अवच्छेदकके रूपमें जलत्व जाति सिद्ध होती है । कहनेका तात्पर्य यह है कि जलत्व जाति भी अनुमानसे सिद्ध है । जैसे समवाय सम्बन्धसे स्नेहके प्रति तादात्म्य सम्बन्धसे जल कारण है । इस कार्यकारणभावसे 'समवायसम्बन्धावच्छिन्नस्नेहत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना जलनिष्ठा कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' इस अनुमानमें स्नेहकी समवायिकारणतावच्छेदकके रूपमें जलत्व जाति सिद्ध होती है । यद्यपि जो धर्म न्यून या अधिक में न रहे वही धर्म अवच्छेदक होता है । इस नियमसे नित्य (परमाणु) और अनित्य (कार्य जल) में रहनेके कारण स्नेहत्व कार्यतावच्छेदक नहीं हो सकता । तथापि जन्य स्नेहत्वको कार्यतावच्छेदक

अथ परमाणौ जलत्वं न स्यात्तत्र जन्यस्नेहाभावात्, नित्यस्य च स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भावनियमादिति चेत्?

न जन्यस्नेहजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजातेः सिद्धौ, तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्वजातिसिद्धेः।

शुक्लरूपमेव जलस्येति दर्शयितुमुक्तं वर्णः शुक्ल इति। न तु शुक्लरूप-

---

न च स्वरूपयोग्यतारूपकारणतायास्तत्रापि सत्त्वमिति वाच्यम्, नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भावनियमेन स्वरूपयोग्यतारूपकारणताया अपि तत्रासम्भवादिति चेद्? न, जन्यस्नेहत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकविधया पूर्वोक्तानुमानेन जन्यजलत्वसिद्धौ समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यजलत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना जलनिष्ठा कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वादित्यनुमानेन जलत्वजातिसिद्धिरित्यदोषात्।

नन्वेवमपि अन्त्यावयविनि जले जन्यजलत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताया असम्भवेन न तत्साधारणजलत्वजातिसिद्धिसम्भव इति चेत्? न, सर्वस्मिन्नपि जले जलान्तरसंयोगेन बृहज्जलजननयोग्यतासत्त्वात् जलस्यान्त्यावयवित्वानुपगमेनादोषादिति दिक्।

न त्विति। पृथिव्यादावतिव्याप्तेरिति शेषः। शुक्लरूपवत्त्वस्य लक्षणत्वेऽपि न

माननेमें कोई हानि नहीं होगी। अब यदि कहा जाय कि परमाणुमें जलत्व जाति नहीं होगी क्योंकि उसमें जन्य स्नेह नहीं है। यदि जन्यस्नेहरूप कार्यके प्रति जलीय परमाणुमें स्वरूपयोग्यतारूप कारणता मान भी लें, तो उसमें कभी न कभी जन्यस्नेहकी उत्पत्ति होनी चाहिए। क्योंकि नियम है कि 'जहाँ कारण रहता है वहाँ फल अवश्य उत्पन्न होता है।' किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि जन्यस्नेहकी जन्यतासे निरूपित जो जन्यजलनिष्ठा जनकता उस जनकताका अवच्छेदक होनेके कारण जन्यजलत्व जातिके सिद्ध हो जाने पर उससे (जन्यजलमें रहनेवाली जन्यजलत्व जातिसे) अवच्छिन्न जो जन्यजलमें वृत्ति-जन्यता उस जन्यतासे निरूपित जो सकलजलनिष्ठा जनकता उसका अवच्छेदक होनेके कारण नित्य और अनित्य जलमें रहनेवाली जलत्व जातिकी सिद्धि भी हो जाती है। यदि जन्यजलमें रहनेवाली कार्यतासे निरूपिता कारणता अन्त्यावयवी जलमें नहीं रहेगी तो उसमें जलत्वजाति नहीं जायगी ऐसी शंका करते हो तो, समझ लीजिए कि अन्त्यावयवी माना ही नहीं जाता।

जलका रूप शुक्ल ही है यह बतानेके लिए 'वर्णः शुक्लः' यह कहा गया है। 'शुक्लरूपत्व जलका लक्षण है' यह इस वाक्यका अर्थ नहीं है। क्योंकि शुक्लरूप पृथ्वीमें भी

वत्त्वं लक्षणम् । अथवा नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तिरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्, अभास्वरशुक्लेतररूपासमानाधिकरणरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं वा तदर्थः । तेन स्फटिकादौ नातिव्याप्तिः ।

रसस्पर्शाविति । जलस्य मधुर एव रसः, शीत एव स्पर्शः । तिक्तरसवदवृत्तिमधुरवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं तदर्थः । तेन

हानिरित्याशयेनाह—अथवेति । पृथिव्यामतिव्याप्तिवारणाय नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तीति । वायावतिव्याप्तिवारणाय रूपवद्वृत्तीति । पटत्वमादायातिव्याप्तिवारणाय द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्येति ।

ननु कारिकास्थशुक्लरूपपदयोर्लक्षणेऽप्रवेशेन कारिकाऽनानुगुण्यमित्यस्वरसादाह—अभास्वरशुक्लेति । पृथिवीत्वमादाय पृथिव्यामतिव्याप्तिवारणायासमानाधिकरणान्तम्, जलत्वस्य शुक्लरूपसामानाधिकरण्यसत्त्वाद् असम्भव इति रूपे शुक्लेतरत्वं विशेषणम् । तेजस्त्वमादाय तेजस्यतिव्याप्तिवारणाय अभास्वरेति । वायुत्वमादाय वायावतिव्याप्तिवारणाय रूपवद्वृत्तीति । पटत्वमादायातिव्याप्तिवारणाय साक्षादिति ।

न च पटे नीलरूपस्यापि अनुभवसिद्धत्वात्पटत्वमित्ययुक्तम् इति वाच्यम्, नीलपटे नीलं रूपं नीलद्रव्यान्तरस्यैव न तु पटस्येत्यदोषात् । द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यत्वं द्रव्यत्वव्याप्याऽव्याप्यत्वं, तच्च न पटत्वस्येत्यदोषः । जलघटान्यतरत्वमादायातिव्याप्तिवारणाय जातीति ।

ननु शीतस्पर्शवत्त्वस्य जललक्षणत्वे शर्करादावतिव्याप्तिरत आह—तिक्तरसेति । पृथिवीत्वमादाय पृथिव्यामतिव्याप्तिवारणाय प्रथमं वृत्त्यन्तम् । तेजस्त्वादिमादायातिव्याप्तिवारणाय द्वितीयं वृत्त्यन्तम् । शर्करात्वमादायातिव्याप्तिवारणाय साक्षादिति । जलतेजोऽन्यतरत्वमादायातिव्याप्तिवारणाय जातीति ।

रहता है । यदि आप शुक्लरूपवत्त्वको लक्षण ही मानना चाहते हो तो 'नैमित्तिक द्रवत्व (गुण) के अधिकरणमें न रहनेवाली और रूपके अधिकरणमें रहनेवाली द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य जातिवाला होना, अथवा अभास्वर शुक्लसे भिन्नरूपके साथ एक अधिकरणमें न रहनेवाली और रूपके अधिकरणमें रहनेवाली द्रव्यत्वकी साक्षात व्याप्य जातिवाला होना, शुक्लरूपवत्त्वका अर्थ माननेसे स्फटिक आदिमें अतिव्याप्ति नहीं होती है ।

जलमें मधुर ही रस रहता है और शीतल स्पर्श । यदि मधुर रस होनेके कारण शक्करमें अतिव्याप्तिकी शङ्का करते हो तो 'तिक्तरसवालेमें न रहनेवाली और मधुररसवालेमें रहनेवाली द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य जातिवाला होना' जलका लक्षण करनेसे शक्करमें अतिव्याप्ति नहीं होगी । क्योंकि वह पार्थिव है और उसमें रहनेवाली पृथ्वीत्वजातिमें

शर्करादौ नातिव्याप्तिः। शीतेतरस्पर्शवदवृत्तिस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं तदर्थः।

ननु—शुक्लरूपवत्त्वमेवेति कुतः, कालिन्दीजलादौ नीलिमोपलब्धेरिति चेद्—

न, नीलजनकतावच्छेदिकायाः पृथिवीत्वजातेरभावाज्जले नीलरूपासम्भवात्। कालिन्दीजले नीलत्वप्रतीतिस्त्वाश्रयौपाधिकी। अत एव वियति विक्षेपे धवलिमोपलब्धिः।

अथ जले माधुर्ये किं मानम्? न हि प्रत्यक्षेण कोऽपि रसस्तत्रानुभूयते। न च नारिकेलजलादौ माधुर्यमुपलभ्यत एवेति वाच्यं, तस्याश्रयौपाधिकत्वात्। अन्यथा जम्बीररसादावम्लाद्युपलब्धेरम्लादिमत्त्वमपि स्यादिति चेद्?

न—हरीतक्यादिभक्षणस्य जलरसव्यञ्जकत्वात्। न च हरीतक्यामेव जलोष्मसंयोगाद्रसान्तरोत्पत्तिरिति वाच्यं, कल्पनागौरवात्।

शीतेतरेति। द्रव्यत्वमादायातिव्याप्तिवारणाय शीतेतरस्पर्शवदवृत्तीति। आत्मत्वमादायातिव्याप्तिवारणाय स्पर्शवद्वृत्तीति। अस्मिंल्लक्षणे द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्येति सम्पातायातम्।

तिक्तरस भी रहता है। शीतस्पर्शका अर्थ है 'शीतसे भिन्न प्रकारके स्पर्शवालेमें न रहनेवाली और स्पर्शके अधिकरणमें रहनेवाली द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य जातिवाला होना'।

अब प्रश्न यह उठता है कि जलमें शुक्ल ही रूप कैसे है? क्योंकि यमुनाके जलमें नीलिमा भी प्रकट होती है। ठीक है, किन्तु नीलरूपमें रहनेवाली जो कार्यतानिरूपित-कारणता उसका अवच्छेदक जो पृथ्वीत्व जाति वह जलमें नहीं है। अतः जलमें नीलरूप भी नहीं है। यमुनाके जलमें नीलरूपकी प्रतीति आश्रयकी (जलके आश्रय पृथ्वीकी) उपाधिसे (कारणसे) होती है। अतएव यमुनाके जलको आकाशमें उछालनेसे धवलता दिखाई पड़ती है।

जलमें मधुरता रहती है इसमें कोई प्रमाण नहीं है? क्योंकि प्रत्यक्षसे तो जलमें किसी भी रसका अनुभव नहीं होता। 'नारियलके रसमें जो मिठास है वह जलकी है' यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि वह आश्रय (पृथ्वी) के कारण (उपाधि) से होती है। यदि यह स्वाद जलका मानते हो तो नींबूके रसमें खट्टापन रहनेसे जलमें खट्टा रस भी मानना पड़ेगा। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है हर्रे खालेनेपर जलके रसकी प्रतीति होती

पृथिवीत्वस्याम्लादिजनकतावच्छेदकत्वाच्च जले नाम्लादिकम्। जम्बीर-रसादौ त्वाश्रयौपाधिकी तथा प्रतीतिः।

एवं जन्यशीतस्पर्शजनकतावच्छेदकं जन्यजलत्वं तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकं तु जलत्वं बोध्यम्। घृष्टचन्दनादौ तु शैत्योपलब्धिश्चन्दनान्तर्वर्तिशीतेतरसलिलस्यैव। तेजःसंयोगाज्जले उष्णप्रतीतिरौपाधिकी स्फुटैव, तत्र पाकासम्भवात्।

स्नेहस्तत्रेति। घृतादावपि तदन्तर्वर्तिजलस्यैव स्नेहः, जलस्य स्नेहसमवायिकारणत्वात्। तेन जल एव स्नेह इति मन्तव्यम्।

द्रवत्वमिति। सांसिद्धिकद्रवत्वत्वं जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः।

एवं जन्यशीतस्पर्शेति। समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यशीतस्पर्शत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना जन्यजलनिष्ठा कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात् इत्यनुमानेन जन्यजलत्वजातिसिद्धौ, समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यजलत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना जलनिष्ठा कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् इत्यनुमानेन जलत्वजातिः सिध्यतीति भावः।

है। हर्रेमें जल और मुखकी गर्मीसे दूसरा रस उत्पन्न होता है यह कल्पना करनेमें गौरवके अतिरिक्त कोई लाभ नहीं। और स्नेह आदि रसोंका कारणतावच्छेदक पृथ्वीत्व है। इसलिए जलमें खट्टा रस नहीं रहता। जम्बीरी नीबूके रसका खट्टापन भी आश्रयके (पृथ्वीके) उपाधिसे (कारणसे) है।

इसी प्रकार जैसा पृथ्वीके बारेमें कहा गया है वैसे ही जन्यशीतस्पर्शका जनकतावच्छेदकजन्यजलत्व और उससे अवच्छिन्नजनकतावच्छेदक जलत्वको मानना चाहिए। घिसे हुए चन्दनमें जो शीतलता-प्रतीति होती है वह चन्दनके अन्तर्गत शीतेतर जलकी ही है। और अग्नि के संयोगसे जलका उष्णस्पर्श होना तो औपाधिक (कारणजन्य) है वह तो स्पष्ट है। क्योंकि जलमें पाक (नए प्रकारका गुण उत्पन्न करनेवाला तेजःसंयोग सम्भव ही नहीं है।

घीमें भी जो स्नेह (चूर्णको मिलानेका कारण) की प्रतीति होती है वह भी स्नेह जलका ही है। इसलिए स्नेह नामका गुण जलमात्रमें रहता है यह मानना चाहिए।

सांसिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्वत्व एक जाति है जो प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिए सांसिद्धिकद्रवत्वत्वावच्छिन्न कार्यतानिरूपित कारणताका अवच्छेदक भी जलत्व है। तेल आदिमें भी जो द्रवत्व है वह जलका ही है। तेलमें स्नेहकी इतनी अधिक मात्रा है कि वह

तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकमपि तदेवेति भावः। तैलादावपि जलस्यै द्रवत्वं स्नेहप्रकर्षेण च दहनानुकूल्यमिति वक्ष्यति ॥ ३९ ॥

नित्यतादि प्रथमवत्किन्तु देहमयोनिजम् ।
इन्द्रियं रसनं सिन्धुहिमादिर्विषयो मतः ॥ ४० ॥

प्रथमवदिति । पृथिव्या इवेत्यर्थः । तथा हि, जलं द्विविधं—नित्यमनित्यं च । परमाणुरूपं नित्यं, द्व्यणुकादिकं सर्वमनित्यमवयवसमवेतं च । अनित्यमपि त्रिविधं-शरीरेन्द्रियविषयभेदात् ।

पृथिवीतो यो विशेषस्तमाह—किन्त्विति । देहमयोनिजम्, अयोनिजमेवेत्यर्थः । जलीयं शरीरं वरुणलोके प्रसिद्धम् ।

इन्द्रियमिति । जलीयमित्यर्थः । तथाहि, रसनं जलीयं गन्धाद्य

तदेवेति । जन्यजलत्वमेवेत्यर्थः । तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकं जलत्वमिति भावः। स्नेहप्रकर्षेण च दहनानुकूल्यमिति । स्नेहो द्विविधः, घनीभूतः, अघनीभूतश्च। तत्रादिमो दहनानुकूलः, परश्च दहनप्रतिकूल इति तत्त्वम् । एवम् तप्ततैलादौ घनीभूतस्य तस्य सत्त्वेन तत्र जलबिन्दुप्रक्षेपे सद्य एव ज्वालाजटिलस्याग्नेरुत्पत्तिः ॥३९॥

जलीयं शरीरमिति । तच्च पार्थिवावयवैरुपष्टब्धं बोध्यम् । तेन जलमात्रे हस्तपादादिव्यवस्थाया नानुपपत्तिः । एवं तेजःशरीरेऽपि बोध्यम् । पार्थिवशरीरेऽपि पिण्डादिदर्शनाज्जलाद्युपष्टम्भोऽस्त्येवेति भावः ।

अग्निके प्रतिकूल (अर्थात् बुझानेमें समर्थ) नहीं है। अतः अग्निके अनुकूल (अर्थात् उत्तेजक) है इसपर (स्नेहनिरूपणमें) आगे विचार किया जायगा ॥ ३९ ॥

(जलका) नित्यत्व आदि भेद पहले (पृथ्वी) के समान है परन्तु जलीय देह अयोनिज होता है। इन्द्रिय रसना है और विषय समुद्र और हिम आदि है।

स्वयं व्याख्या करते हैं—प्रथमवत् अर्थात् पृथ्वीकी तरह। जैसे जल दो प्रकारका है—एक नित्य, दूसरा अनित्य। परमाणुरूप नित्य तथा द्व्यणुकादिक सब अनित्य और अवयवमें समवेत होकर रहते हैं। अनित्य जल भी तीन प्रकारका होता है—एक शरीर, दूसरा इन्द्रिय और तीसरा विषय। पृथ्वीसे जलमें जो विशेषता है उसे कहते हैं। देह अयोनिज है अर्थात् अयोनिज ही है। जलीय देह वरुणलोकमें प्रसिद्ध है। और वह देह पृथ्वीके अवयवोंसे आच्छादित है। जिससे जलीय देह में भी हाथ-पैर आदि व्यवस्थायें ठीक पड़ती हैं।

रसनेन्द्रिय जलीय है। यह अनुमानसे सिद्ध है। जैसे रसना इन्द्रिय जलीय है क्योंकि

व्यञ्जकत्वे सति रसव्यञ्जकत्वात् सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवत्। रसनेन्द्रियसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम्।

विषयं दर्शयति-सिन्धुहिमादिरिति। सिन्धुः समुद्रः। हिमं तुषारः। आदिपदात्सरित्कासारकरकादिः सर्वोऽपि ग्राह्यः। न च हिमकरकयोः कठिनत्वात्पार्थिवत्वमिति वाच्यम्, ऊष्मणा विलीनस्य तस्य जलत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। 'यद् द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यमि'ति व्याप्तेर्जलोपादानोपादेयत्वसिद्धेः, अदृष्टविशेषेण वा द्रवत्वप्रतिरोधात्। करकादीनां काठिन्यं प्रत्ययस्य भ्रान्तित्वात्॥ ४०॥

तेजो निरूपयति—

उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम्।

ऊष्मणा विलीनस्य तस्येति। सप्तम्यर्थे षष्ठी। तथा च करकादिद्रव्ये नष्टे सति द्रव्यान्तरोत्पादात्तत्र द्रवत्वजलत्वयोः प्रत्यक्षम्। द्रव्यान्तरस्य च जलोपादानकत्वमेव। तदाह—यद् द्रव्यमिति। 'यद् द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्य तत्तदुपादानोपादेयम्' इति व्याप्तिः। पार्थिवत्वाभावे काठिन्यप्रत्ययोपपत्तिमाह—अदृष्टेति॥ ४०॥

गन्धका व्यञ्जक न होकर रसका व्यञ्जक है। जैसे सक्तुके रसका अभिव्यञ्जक जल। इस अनुमानसे रसना जलीय इन्द्रिय सिद्ध हुई। किन्तु उक्त हेतु रसनेन्द्रिय-सन्निकर्षमें भी है। अतः व्यभिचार होगा। क्योंकि रस और रसनेन्द्रियका जो सन्निकर्ष है वह भी गन्धका व्यञ्जक न होकर रसका व्यञ्जक है। इसलिए उक्त हेतु वाक्यमें द्रव्यत्व भी विशेषण लगाना चाहिए। जैसे 'गन्धाव्यञ्जकत्वे सति द्रव्यत्वे सति रसव्यञ्जकत्वम्' यह हेतु निर्दुष्ट सिद्ध हुआ। क्योंकि सन्निकर्ष द्रव्य नहीं है।

विषयका विचार करते हैं—सिन्धुहिमादिः। सिन्धु = समुद्र। हिम = तुषार। आदि पदसे नदी, सरोवर और करका (आकाशसे गिरनेवाला ओला) आदि सब विषय हैं। कठिन होनेके कारण हिम और करका पार्थिव नहीं हो सकता क्योंकि गरमीसे जब वह पिघल जाता है तब जलत्व उसमें प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है। जो द्रव्यके ध्वससे जन्य है वह द्रव्य उसके उपादानका (कारणका) उपादेय (कार्य) है। इस व्याप्तिके आधार पर जलके उपादान (कारण) का उपादेय (कार्य) होनेके कारण हिम आदि जलरूप ही सिद्ध हुआ। अदृष्ट विशेषसे द्रवत्व दब जाता है इसलिए ओलेमें जो ठोसपन है वह भ्रम है। वस्तुतः काठिन्य नहीं है॥ ४०॥

तेज का निरूपण करते हैं—

तेजका स्पर्श उष्ण (गरम) रूप भास्वरशुक्ल, द्रवत्व नैमित्तिक और नित्यता आदि पहलेके (पृथ्वी) समान ही है।

नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

उष्णत्वं स्पर्शनिष्ठो जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः। इत्थं च जन्योष्णस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदकं तेजस्त्वं जातिविशेषः। तस्य परमाणुवृत्तित्वं तु जलत्वस्येवानुसन्धेयम्।

न चोष्णस्पर्शवत्त्वं चन्द्रकिरणादावव्याप्तमिति वाच्यं, तत्राप्युष्णत्वस्य सत्त्वात्। किन्तु तदन्तःपातिजलस्पर्शेनाभिभवादग्रहः। एवं रत्नकिरणादौ पार्थिवस्पर्शेनाभिभवाच्चक्षुरादौ चानुद्भूतत्वादग्रहः।

रूपमित्यादि। वैश्वानरे मरकतकिरणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभवाच्छुक्लरूपाग्रहः।

तेजस्त्वं जातिविशेष इति। समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्योष्णस्पर्शत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना जन्यतेजोनिष्ठा कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वादित्यनुमानेन जन्यतेजस्त्वजातिसिद्धौ, समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यतेजस्त्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना तेजोनिष्ठा कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वादित्यनुमानेन तेजस्त्वं जातिः सिध्यतीति भावः।

तेजके स्पर्शमें रहनेवाली प्रत्यक्ष सिद्ध एक जाति है जिसे उष्णत्व कहते हैं। इस प्रकार जन्य उष्णस्पर्शकी समवायिकारणताका अवच्छेदक तेजस्त्व एक जाति विशेष है। तेजस्त्व जाति भी अनुमानसे सिद्ध हैं। अनुमानाकार—समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्योष्णस्पर्शत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नजन्यतेजोनिष्ठा कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् इस अनुमानसे जन्यतेजस्त्व जाति सिद्ध हो गई। इसी प्रकार तेजस्त्व जाति भी पूर्वकी भांति सिद्ध होती है। वह जन्यतेजस्त्व जाति जिस प्रकार परमाणुमें जाय वैसा उपाय पूर्व प्रकरणोंकी भांति करना चाहिये। इस उष्णस्पर्शवत्त्वकी चन्द्रकिरणमें अव्याप्ति होगी यह नहीं कहना चाहिए। क्योंकि चन्द्रमामें भी उष्णत्व है। किन्तु चन्द्रमाके बीजमें वर्तमान जलके स्पर्शसे दब जानेके कारण उसका ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार रत्नोंकी किरणें पार्थिवभागसे इतनी दबी हैं कि रत्नकी किरणोंमें वर्तमान तेजःस्पर्शका पता नहीं चलता और तैजस इन्द्रिय आंखके भी तेजका स्पर्श इसलिए नहीं होता कि उसमें स्पर्श अनुद्भूत है। वैश्वानर = अग्नि और मरकत मणिकी किरणोंका रूप पार्थिवरूपसे अभिभूत (दबा) हैं इसलिए शुक्लरूपका ग्रहण नहीं होता।

इस पर यह शङ्का होती है कि यदि मरकतमणि और अग्निके रूपका प्रत्यक्ष नहीं होता तब उस तेजरूपके धर्मी अग्नि और मणिका भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होगा? किन्तु

ननु तद्रूपाग्रहे धर्मिणोऽपि चाक्षुषत्वं न स्यादिति चेत् ? न, अन्यदीयरूपेणापि धर्मिणो ग्रहसम्भवात्, शङ्खस्येव पित्तपीतिम्ना। वह्नेस्तु शुक्लरूपं नाभिभूतं किन्तु तदीयं शुक्लत्वमभिभूतमित्यन्ये।

नैमित्तिकमिति। सुवर्णादिरूपे तेजसि तत्सत्त्वात्। न च नैमित्तिकद्रवत्वं न लक्षणं दहनादावव्याप्तं घृतादावतिव्याप्तं चेति वाच्यं, पृथिव्यवृत्तिनैमित्तिकद्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

पूर्ववदिति। जलस्येवेत्यर्थः। तथाहि, तद्-द्विविधं-नित्यमनित्यं

पृथिव्यवृत्तीति। नैमित्तिकद्रवत्ववद्वृत्तिपृथिवीत्वजातिमादाय पृथिव्यामतिव्याप्तिवारणाय पृथिव्यवृत्तीति। पृथिव्यवृत्तित्वमादाय जलेऽतिव्याप्तिवारणाय नैमित्तिकद्रवत्ववद्वृत्तीति। जलतेजोऽन्यतरत्वमादायातिव्याप्तिवारणाय जातीति। अत्र द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्येति सम्पातायातम्॥ ४१॥

वस्तुतस्तु—वृत्तित्वं वृत्तिभेदेन भिन्नं 'सामान्याभावे प्रमाणाभाव' इति मते पृथिव्यवृत्तित्वपदेन पृथिवीनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नतत्तद्वृत्तित्वव्यक्तेरभावकूटो लक्षणे निवेशनीयः, तदनिवेश्य लाघवेन पृथिवीत्वनिष्ठवृत्तित्वव्यक्तेरभावमात्रं निवेश्य द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यत्वनिवेशेनैव घटत्वद्रव्यत्वादिकमादाय लक्षणेऽतिव्याप्तिर्वारणीया। एवं च पृथिवीत्वव्यक्तिभिन्नत्वे सति नैमित्तिकद्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वमिति निष्कर्ष इति वदन्ति।

रामरुद्रभट्टाचार्यास्तु—नैमित्तिकद्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वमिति

यह शङ्का ठीक नहीं, दूसरेके रूपोंसे भी धर्मीका ग्रहण होता है। जैसे पित्तरोगसे उत्पन्न पीतिमा आंखमें है किन्तु शङ्ख पीला दिखाई पड़ता है। अग्निका शुक्लरूप अभिभूत नहीं है किन्तु उसके शुक्लत्वका अभिभव हुआ है। यह कुछ लोगोंका मत है।

अग्निमें नैमित्तिक द्रवत्व रहता है, जो नैमित्तिक द्रवत्व सुवर्णरूपी तेजमें है। अग्निमें अव्याप्ति और घी आदिमें अतिव्याप्ति होनेसे नैमित्तिकद्रवत्व यह लक्षण नहीं है। यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि 'पृथ्वीमें न रहनेवाली और नैमित्तिकद्रवत्वके अधिकरणमें रहने वाली द्रव्यत्वकी साक्षात् व्यापक जातिवाला होना' यह 'नैमित्तिक द्रवत्व' का अर्थ मान लेनेसे कोई दोष नहीं है। तात्पर्य यह है कि सुवर्णको छोड़कर किसी अग्निमें नैमित्तिकद्रवत्व नहीं है। अतः जलानेवाले अग्निमें यह लक्षण न जायगा जिससे अव्याप्ति होगी। और घी आदि पृथ्वीमें नैमित्तिक द्रवत्व होने के कारण अतिव्याप्ति होगी। इसलिए उक्त अर्थ किया गया जिससे कहीं अतिव्याप्ति आदि नहीं होती।

पूर्ववत्का अर्थ है जलके समान। जैसे-तेज दो प्रकार का है एक नित्य और दूसरा

च नित्यं परमाणुरूपम् । तदन्यदनित्यम्, अवयवि च । तच्च त्रिधा-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्; शरीरमयोनिजमेव । तच्च सूर्यलोकादौ प्रसिद्धम् ॥ ४१ ॥

अत्र यो विशेषस्तमाह—

इन्द्रियं नयनं, वह्निस्स्वर्णादिर्विषयो मतः ।

ननु चक्षुषस्तैजसत्वे किं मानमिति चेत् ? चक्षुस्तैजसं परकीय-स्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्; प्रदीपस्य स्वीयस्पर्शव्यञ्जकत्वादत्र दृष्टान्तेऽव्याप्तिवारणाय प्रथमं परकीयेति । घटादेः स्वीयरूपव्यञ्जकत्वाद्व्यभिचारवारणाय द्वितीयं परकीयेति ।

जातिपदस्य द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिपरत्वेपि न निस्तारः । किन्तु पृथिव्यवृत्तीति-विशेषणादेवेति सूचयितुं साक्षात्पदमिति वदन्ति ॥ ४१ ॥

अनित्य । नित्य परमाणुरूप है । और अनित्य कार्यरूप है और अवयववाला भी है । उसके और भी तीन भेद हैं शरीर, इन्द्रिय और विषय । तैजस शरीर अयोनिज है जो सूर्यलोकमें प्रसिद्ध है ॥ ४१ ॥

जलकी अपेक्षा जो तेजमें विशेषता है वह कहते हैं :—

तैजस इन्द्रिय नेत्र हैं । अग्नि, स्वर्ण आदि उसके विषय हैं ।

यदि आप पूछते हैं कि 'नेत्ररूपी इन्द्रिय तैजस है' इसमें क्या प्रमाण है तो सुनिए, अनुमानके द्वारा नेत्र तैजस इन्द्रिय सिद्ध होता है । जैसे 'नेत्र तैजस है । क्योंकि वह दूसरेके स्पर्शका व्यञ्जक न होकर दूसरेके रूपका व्यञ्जक है, प्रदीपके समान । यदि हेतु-वाक्यमें परकीय पद न दें तो दृष्टान्त प्रदीपमें अव्याप्ति होगी, क्योंकि प्रदीप अपने स्पर्शका व्यञ्जक है । अतः प्रथम परकीय पद दिया । इसी प्रकार हेतु-वाक्यमें द्वितीय परकीय पद न देने पर परकीय स्पर्शके अव्यञ्जक और अपने रूपके व्यञ्जक घटमें अतिव्याप्ति होती । अतः द्वितीय परकीय पद दिया । अथवा दीपको दृष्टान्त न बनाकर दीपककी प्रभाको दृष्टान्त मानने पर प्रथम परकीय पदके बिना भी कोई दोष नहीं है । इतना कहने पर भी नेत्र और घटके सन्निकर्षमें (संयोगमें) व्यभिचार (अतिव्याप्ति) होगी । अतः 'द्रव्यत्वे सति' इतना हेतुवाक्यमें और जोड़ देना चाहिए ।

अथवा प्रभाया दृष्टान्तत्वसम्भवादाद्यं परकीयेति न देयम्। चक्षुःसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम्।

विषयं दर्शयति-वह्निरिति। ननु सुवर्णस्य तैजसत्वे किं मानमिति चेद्? न, सुवर्णं तैजसम्, असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात्, यन्नैवम् तन्नैवम्, यथा पृथिवीति। न चाप्रयोजकं पृथिवीद्रवत्वस्य जन्यजलद्रवत्वस्य चात्यन्ताग्निसंयोगनाश्यत्वात्।

ननु पीतिमगुरुत्वाश्रयस्य पार्थिवभागस्यापि तदानीं द्रुतत्वान्न

आद्यं परकीयेति न देयमिति। त्रसरेणोस्त्वाचप्रत्यक्षस्यानभ्युपगमेन 'स्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति रूपव्यञ्जकत्वस्य सत्वात्पार्थिवत्रसरेणौ [व्यभिचारवारणाय द्वितीयपरकीयं तु देयमेवेति ध्येयम्।

ननु सुवर्णं पार्थिवं नैमित्तिकद्रवत्ववत्वादित्यनुमानेन सुवर्णस्य पार्थिवत्वमेवास्तु कथं तैजसत्वमिति चेद्। उच्यते; सुवर्णं तैजसम्, असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वात् यन्नैवं तन्नैवं, यथा पृथिवीत्यनुमानेन सुवर्णे तैजसत्वसिद्धिः। न चात्र पीतरूपवद्द्रव्यात्मकस्य सुवर्णस्य पक्षत्वे बाधः तैजससुवर्णस्य पक्षत्वे अनुमानापूर्वं तैजससुवर्णस्याप्रसिद्धया पक्षाप्रसिद्धिः, सुवर्णपदवाच्यस्य पक्षत्वे धर्मशास्त्रे पीतद्रव्येऽपि सुवर्णपदप्रयोगाद्बाधतादवस्थ्यमिति वाच्यम्। असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्तानलसंयोगे सति अनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणस्यैव पक्षतयाऽदोषात्।

जलमध्यस्थघृतादौ व्यभिचारवारणाय असति प्रतिबन्धक इति। असति प्रतिबन्धके अनुच्छिद्यमानद्रवत्वादित्येतन्मात्रोक्तौ अग्नेरसमवधाने कथञ्चिदग्निसंयोगे वा अनुच्छिद्यमानद्रवत्वस्य घृतादौ सत्वेन व्यभिचारवारणाय-अत्यन्तानलसंयगेपीति।

विषय दिखाते हैं—अग्नि और सुवर्ण इत्यादि। अब शङ्का होती है कि सुवर्ण तैजस पदार्थ है इसमें प्रमाण क्या है? सुनिए, अनुमान प्रमाणसे सोना तेज सिद्ध हो जाता है। जैसे सुवर्ण तेज है, क्योंकि विना किसी प्रतिबन्धकके अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर भी नष्ट न होनेवाले जन्यद्रवत्ववाला है। जो ऐसा नहीं है, वह तैजस भी नहीं है। जैसे पृथ्वी। और यह अनुमान व्यभिचार-शङ्कानिवर्तक अनुकूल तर्करहित भी नहीं कहा जा सकता है। ('असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वं तैजसत्वव्यभिचारि न वा' यह व्यभिचारशङ्का है।) क्योंकि इस शङ्काका निवर्तक 'यदि असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वं तैजसत्वव्यभिचारि स्यात् तर्हि क्वचित् पृथिव्यां जले वा उपलभ्येत। यह अनुकूल तर्क है। अर्थात् पृथ्वीका द्रवत्व और जन्यजलका द्रवत्व अत्यन्त अग्निके संयोगसे नष्ट हो जाता है।

अब यह शङ्का होती है कि सुवर्णमें तेजका आच्छादक जो पीतरूप और गुरुत्वका आश्रय पार्थिव भाग है वह भी सुवर्णके पिघलने पर पिघलता है फिर तो पार्थिव भागमें भी

व्यभिचार इति चेत् ? न, जलमध्यस्थमषीक्षोदवत्तस्याद्रुतत्वात् ।

अपरे तु पीतिमाश्रयस्य अत्यन्ताग्निसंयोगेऽपि पूर्वरूपापरावृत्तिदर्शनात्तत्प्रतिबन्धकं विजातीयद्रवद्रव्यं कल्प्यते । तथा हि—अत्यन्ताग्निसंयोगे पीतिमगुरुत्वाश्रयः विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयुक्तः, अत्यन्ताग्निसंयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वात्, जलमध्यस्थपीतपटवत् । तस्य च पृथिवीजलभिन्नस्य तेजस्त्वनियमात् ।

ननु उच्छिद्यमानो द्रवो यस्य स उच्छिद्यमानद्रवः न उच्छिद्यमानद्रवः अनुच्छिद्यमानद्रवः तस्य भावस्तत्त्वमिति व्युत्पत्त्या उच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणभिन्नत्वमिति हेतुर्लभ्यते । ततश्च गगने व्यभिचार इति चेद् ? न, न उच्छिद्यमानो द्रवो यस्य सोऽनुच्छिद्यमानद्रवः तस्य भावस्तत्त्वमिति व्युत्पत्त्या अनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वं हेतुर्लभ्यते, तादृशहेतोश्च गगनेऽसत्त्वेन व्यभिचाराभावात् ।

न चाप्रयोजकम् 'अग्नेरपत्यं प्रथमं हिरण्यम्' इति आगमस्य, पृथिवीद्रवत्वस्य जन्यजलद्रवत्वस्य च अत्यन्ताग्निसंयोगनाश्यतया सुवर्णद्रवत्वस्य चातथात्वानुभवस्य च अनुकूलतर्कस्य सत्त्वात् ।

जलमध्यस्थेति । क्षोदश्चूर्णम् ।

पूर्वानुमाने पीतिमगुरुत्वाश्रयस्य द्रुतत्वाद्व्यभिचारमाशङ्क्य तस्याद्रुतत्वेन समाहितमिदानीं पीतिमगुरुत्वाश्रयस्य द्रुतत्वमभ्युपगम्यापि समाधत्ते—अपरे तु इत्यादिना ।

ननु सुवर्णस्य तैजसत्वेऽन्धकारे कुतो न तद्ग्रहः, सुवर्णरूपालोकसंयोगसत्त्वादिति चेद् ? न, उद्भूतानभिभूतरूपालोकसंयोगस्यैव द्रव्यप्रत्यक्षे हेतुत्वात् सुवर्णरूपस्य त्वभिभूतत्वात् ।

ननु मूले—'अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः' इत्युक्तं, तेन अपाकजानुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं वायोर्लक्षणं गम्यते तच्च पटादावतिव्याप्तमिति चेद् ? न, पाकजस्पर्शवद्वृत्त्यनुष्णाशीतस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वस्य तदर्थत्वेनादोषात् ।

हेतु जानेसे व्यभिचार होगा । किन्तु यह ठीक नहीं । क्योंकि जलमें स्थित स्याहीके चूर्णकी भांति वह (पीतवर्ण और गुरुत्वका आश्रय पार्थिव भाग) गलत नहीं है । अतः व्यभिचार नहीं है ।

दूसरे लोग कहते हैं कि अत्यन्त अग्निके संयोग होनेपर भी सुवर्णमें स्थित पीतरूपके आश्रयके (पार्थिव भागके) पहिले रूपका परिवर्तन नहीं दिखाई देता इसलिए उसका (अर्थात् रूपपरिवर्तनका) प्रतिबन्धक कोई विजातीय (विलक्षण) द्रवद्रव्यकी कल्पना करनी होगी जो सुवर्ण है । वह कल्पना इस प्रकार है—'अत्यन्त अग्निके संयोग होने पर पीतवर्ण और गुरुत्वका आश्रय विजातीय रूपको रोकनेवाले द्रवद्रव्यसे संयुक्त है, क्योंकि

वायुं निरूपयति—

अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः ॥ ४२ ॥
तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः ।
पूर्ववन्नित्यताद्युक्तं देहव्यापि त्वगिन्द्रियम् ॥ ४३ ॥

अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यामपि सत्त्वादुक्तमपाकज इति । अपाकजस्पर्शस्य जलादावपि सत्त्वादुक्तमनुष्णाशीत इति । तेन वायवीयो विजातीयः स्पर्शो दर्शितः । तज्जनकतावच्छेदकं वायुत्वमिति भावः ।

तज्जनकतावच्छेदकमिति । समवायसम्बन्धावच्छिन्नविजातीयस्पर्शत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना कारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् इत्यनुमानेन वायुत्वं जातिः सिध्यतीति भावः । परमाणुवृत्तित्वं तु तस्य जलत्वस्येवानुसन्धेयम् ।

ननु स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शस्य कारणतास्वीकारकारिनव्यमते वायोः प्रत्यक्षत्वेऽपि बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे उद्भूतरूपस्य कारणत्वाभ्युपगन्तृप्राचीनमते वायोरप्रत्यक्षतया तत्र किं प्रमाणमिति चेत्? उच्यते, विजातीयस्पर्शेन विलक्षणशब्देन तृणादीनां धृत्या शाखादीनां कम्पेन च वायोरनुमानसम्भव इति । तथाहि, योऽयं

अत्यन्त अग्निके संयोग होनेपर भी वह (पीतवर्ण और गुरुत्वका आश्रय) पूर्वरूपके बदलनेसे विजातीय रूपका आश्रय नहीं होता' जैसे जलके मध्यमें स्थित पीत वस्त्र । अतः पृथ्वी और जलसे भिन्न होनेके कारण सुवर्ण को तेज मानना ही चाहिये ।

वायुका निरूपण करते हैं ।

वायुमें अपाकज अनुष्णाशीत (न गरम न ठण्ढा) स्पर्श माना गया है । यह तिरछे बहता है इसके माननेमें स्पर्श हेतु है । वायुकी नित्यता और अनित्यता जलके समान है केवल भेद इतना है कि वायवीय इन्द्रिय त्वक् है जो देहभरमें व्याप्त रहती है ।

यदि 'अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व' को वायुका लक्षण करें और अपाकज पद न दें तो पृथिवीमें भी ऐसे स्पर्शके रहनेसे अतिव्याप्ति होगी । अतः 'अपाकज' पद दिया । 'अपाकजस्पर्शवत्त्व' मात्र लक्षण करनेसे जलमें अतिव्याप्ति होगी । अतः 'अनुष्णाशीत' पद दिया गया । इस प्रकार वायुमें विलक्षण स्पर्श, कहा गया है । (किन्तु इतने पर भी यह लक्षण पटमें अतिव्याप्त होगा, क्योंकि पटका स्पर्श भी अपाकज तथा अनुष्णाशीत है । इसलिये पाकजस्पर्शके अधिकरणमें न रहनेवाली और अनुष्णाशीत स्पर्शके अधिकरणमें रहने वाली द्रव्यत्वसे साक्षात व्याप्य जातिवाला होना ही उक्त लक्षणका अर्थ माना गया है ।) अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्शनिष्ठजन्यतानिरूपित जनकता वायुमें है और जनकतावच्छेदक वायुत्व है ।

एष वायुः स्पर्शादिलिङ्गकः। वायुर्हि स्पर्शशब्दधृतिकम्पैरनुमीयते विजातीयस्पर्शेन, विलक्षणशब्देन, तृणादीनां धृत्या, शाखादीनां कम्पेन च वायोरनुमानात्। यथा च वायोर्न प्रत्यक्षं तथाऽग्रे वक्ष्यते।

रूपवद्द्रव्यासमवेतः स्पर्शः स क्वचिदाश्रितः स्पर्शत्वात् पृथिवीसमवेतस्पर्शवत्। पृथिव्यादिस्पर्श सिद्धसाधनवारणाय रूपवद्द्रव्यासमवेत इति विशेषणम्।

एवम् असति रूपवद्द्रव्याभिघाते योऽयं पर्णादिषु शब्दसन्तानः स स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यसंयोगजन्यः अविभज्यमानावयवद्रव्यसम्बन्धिशब्दसन्तानत्वात् दण्डाभिहतभेरीशब्दसन्तानवत्। पृथिव्याद्यभिघातजन्ये सिद्धसाधनवारणायासतीति. पदविशेषणम्। विभागजन्मनि शब्दे व्यभिचारणवारणाय हेतावविभज्यमानेति।

वायुत्व जातिसिद्धिके अनुमानका आकार उमवायसम्बन्धावच्छिन्नविजातीयस्पर्शत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्। इस अनुमानसे वायुत्व जाति सिद्ध होती है। यद्यपि यह लक्षण परमाणुरूप वायुमें नहीं है तथापि जैसे जलत्वको परमाणुवृत्ति होनेके लिए कहा गया है वैसे अनुमान समझ लेना चाहिए।

यद्यपि स्पार्शन प्रत्यक्षमें स्पर्शको कारण माननेवाले नवीन नैयायिक वायुको प्रत्यक्ष मानते हैं किन्तु बहिरिन्द्रियसे द्रव्यके प्रत्यक्ष होनेमें उद्भूत (प्रकट) रूप होना ही प्राचीन नैयायिकोंने कारण माना है जिससे वायुका प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। अतः वायु कैसे सिद्ध हो? यह प्रश्न हो सकता है तथापि वायुका स्पर्शरूप हेतुसे (१) अनुमान करते हैं। क्योंकि वायुका स्पर्श, शब्द, धृति और कम्पन आदि हेतुओंसे अनुमिति करते हैं। अर्थात् विलक्षण स्पर्शसे, विलक्षण शब्दसे, तृण आदिके धारण से, शाखा आदिके कम्पनसे वायुका अनुमान होता है। वायु प्रत्यक्ष नहीं है यह हम आगे कहेंगे।

---

(१) जैसे—'जो यह रूपवाले द्रव्यमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाला स्पर्श है उसका कोई आश्रय है स्पर्शरूप गुण होनेके कारण, पृथ्वी में समवायसम्बन्धसे रहनेवाले स्पर्शकी भाँति'। इसी प्रकार किसी रूपवाले द्रव्यके आघातके बिना जो पत्तोंमें शब्दकी परम्परा है, वह स्पर्शवाले और वेगवाले द्रव्यके संयोगसे जन्य है, क्योंकि जिनके अवयवोंमें विभाग नहीं हो रहा है उस द्रव्यसे सम्बद्ध शब्दपरम्परा होनेके कारण, दण्डेसे आहत भेरीकी शब्दपरम्पराके समान। इसी प्रकार आकाशमें तृण, रूई, मेघ और विमानोंका धारण किसी स्पर्शवाले और वेगवाले द्रव्यके संयोगके कारण है, हम लोगोंसे अनधिष्ठित-द्रव्यके धारण करनेके कारण, नौकाके धारणके समान। इसी प्रकार रूपवाले द्रव्यके आघातके बिना तृण आदिमें क्रिया है वह स्पर्शवाले और वेगवाले द्रव्यके आघातसे जन्य है विजातीय क्रिया होनेके कारण नदीमें बहते हुए तृणकी क्रियाकी भाँति। यह चारों प्रकार के अनुमानका आकार है।

पूर्ववदिति । वायुर्द्विविधो नित्योऽनित्यश्च । परमाणुरूपो नित्यस्तदन्योऽनित्योऽवयवसमवेतश्च । सोऽपि त्रिविधः, शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । तत्र शरीरमयोनिजं पिशाचादीनाम् । परन्तु जलीयतैजसवायवीयशरीराणां पार्थिवभागोपष्टम्भादुपभोगक्षमत्वं जलादीनां प्राधान्याज्जलीयत्वादिकमिति ।

अत्र यो विशेषस्तमाह—देहव्यापीति । शरीरव्यापकं स्पर्शग्राहकमिन्द्रियं त्वक् । तच्च वायवीयं, रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनपवनवत् ॥ ४२-४३ ॥

विषयं दर्शयति—

प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयो मतः ।

यद्यप्यनित्यो वायुश्चतुर्विधः, तस्य चतुर्थी विधा प्राणादिरित्युक्तमाकरे, तथापि सङ्क्षेपादत्र त्रैविध्यमुक्तम् । प्राणस्त्वेक एव हृदादिनाना-

---

एवम्, नभसि तृणतूलस्तनयित्नुविमानादीनां धृतिः स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यसंयोगहेतुका अस्मदाद्यनधिष्ठितद्रव्यधृतित्वात् नौकाधृतिवत् । जलादिगततृणादौ सिद्धसाधनवारणाय नभसीति । प्रयत्नवदात्मसंयोगहेतुकधृतौ व्यभिचारवारणायास्मदादीति ।

एवम्, रूपवद्द्रव्याभिघातमन्तरेण तृणे कर्म स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्याभिघात जन्य विजातीयकर्मत्वात् नदपराहतकाष्ठादिकर्मवदिति ॥ ४१-४२ ॥

आकरे इति । प्रशस्तपादभाष्यादाविस्यर्थः ।

पूर्ववत् पदकी व्याख्या करते हैं—वायु दो प्रकारका होता है एक नित्य और दूसरा अनित्य । परमाणुरूप नित्य है और उससे भिन्न (कार्यरूप) अनित्य है जो अपने कारणरूप अवयवोंमें समवाय सम्बन्धसे रहता है । अनित्य भी तीन प्रकारका है—शरीर, इन्द्रिय और विषयके भेदसे । उसमें शरीर तो अयोनिज है जैसे पिशाच आदिका । परन्तु जलीय, तैजस और वायुसे उत्पन्न शरीरोंमें पार्थिवभागभी आच्छादक है जिससे उपभोगका सामर्थ्य आता है । जलीय शरीर इसलिए कहते हैं कि उसमें जलकी प्रधानता है ।

इसमें जो विशेषता है उसे कहते हैं कि देहव्यापी । शरीरमें व्यापक और स्पर्शके ग्राहक इन्द्रियको त्वक् कहते हैं । वह वायवीय है, क्योंकि रूपादिकोंमेंसे केवल स्पर्शका ही व्यञ्जक है । देहसे मिलनेवाले पानीकी शीतलता बतानेवाले पंखेके वायुके समान ॥४२-४३॥

विषयको दिखाते हैं—

प्राणादिसे लेकर महावायु पर्यन्त वायुका विषय माना गया है । यद्यपि अनित्य वायु चार प्रकारका है और उसका चौथा प्रकार प्राणादि (प्राण, अपान, समान, उदान और

स्थानवशान्मुखनिर्गमादिनानाक्रियावशात् नानासञ्ज्ञां लभत इति।
आकाशं निरूपयति—

आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः ॥ ४४ ॥

आकाशकालदिशामेकैकव्यक्तित्वादिकं न जातिः। किन्तु आकाशत्वं शब्दाश्रयत्वम्। वैशेषिक इति कथनं तु विशेषगुणान्तरव्यवच्छेदाय। एतेन प्रमाणमपि दर्शितम्। तथाहि, शब्दो विशेषणगुणः चक्षुर्ग्रहणायोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातीयत्वात् स्पर्शवत्। शब्दो द्रव्यसमवेतो

स्थानवशादिति।

'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥'

इत्यभियुक्तोक्तेरिति भावः।

आकाशं निरूपयतीति। निपूर्वकरूपयतेः प्रतिपत्त्यनुकूलव्यापारोऽर्थः, तिबर्थः कृतिः। आकाशपदोत्तरद्वितीयाया विषयताऽर्थः। तथा च आकाशनिष्ठविषयतानिरूपकप्रतिपत्त्यनुकूलव्यापारानुकूलवर्तमानकालिककृतिमान् एकत्वावच्छिन्नो ग्रन्थकार इति बोधः।

कालत्वं दिक्त्वं न जातिरित्यग्रे कथने गौरवमतो लाघवेन युगपदेव कथयति—आकाशकालेति।

शब्दाश्रयत्वमिति। आश्रयता चात्र समवायेन। तेन कालिकसम्बन्धेन शब्दस्य काले सत्त्वेऽपि न क्षतिः।

ननु आकाशस्य शब्दो गुण इत्येव कथनेन सिद्धे वैशेषिकपदस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्याह—वैशेषिक इतीति। शब्दो द्रव्यमिति मीमांसकमतनिरासाय गुणपदम्।

नन्वाकाशसद्भावे किम्मानमिति चेद्? उच्यते, शब्दः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः

व्यान) है यही आकरमें (प्रशस्तपादभाष्यमें) लिखा है। तथापि संक्षेपसे यहाँ तीन प्रकार ही कहे गए हैं। प्राणवायु तो एक ही है फिर भी हृदय आदि अनेक स्थानोंमें रहनेसे तथा मुख आदिसे निकलनेकी अनेक क्रियाओंके कारण अनेक संज्ञायें हो गई हैं।

आकाशका निरूपण करते हैं—

'आकाशका विशेषगुण शब्द है' ऐसा जानना चाहिए। आकाश, काल और दिशायें एक-एक व्यक्ति हैं अतः आकाशत्व आदि (कालत्व और दिक्त्व) जाति नहीं हैं। किन्तु 'शब्दका आश्रय होना' ही आकाशत्व है। मूलमें 'वैशेषिक' यह कहनेका तात्पर्य है कि आकाशमें शब्दके अतिरिक्त कोई भी विशेष गुण नहीं रहता। और इसीसे आकाशके अस्तित्वमें अनुमान प्रमाण भी दिखा दिया गया है। वह इस प्रकार है—शब्द विशेषगुण है, क्योंकि नेत्रसे ग्रहण करनेके अयोग्य और बहिरिन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य

गुणत्वात् संयोगवत् इत्यनुमानेन शब्दस्य द्रव्यसमवेतत्वे सिद्धे शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सत्य-कारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात् सुखवत् । पाकजरूपादौ व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् । पटरूपादौ व्यभिचारवारणायाकारणगुणपूर्वकेति । जलपरमाणुरूपादौ व्यभिचारवारणाय प्रत्यक्षेति । शब्दो न दिक्कालमनसां गुणो विशेषगुणत्वात् । नात्मविशेषगुणो बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वाद्रूपवत् । इत्थं च शब्दाधिकरणं नवमं द्रव्यं गगननामकं सिध्यति ।

अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्वादित्यनुमानेन आकाशसिद्धिरिति । न च विशेषणासिद्धिरिति वाच्यम्, शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः अग्निसंयोगासमवायिका-रणकत्वाभावे सति अकारणगुणपूर्वकत्वे सति प्रत्यक्षत्वात् सुखवत् । शब्दो न दि-क्कालमनसां गुणः विशेषगुणत्वात् रूपवत् नात्मविशेषगुणः बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वा-द्रूपवत् इत्यनुमानैरष्टद्रव्यानाश्रितत्वसिद्ध्या विशेषणासिद्ध्यभावात् । न च विशेष-गुणत्वस्य शब्देऽसिद्धत्वाद् द्वितीयानुमाने स्वरूपासिद्धिरिति वाच्यम् । शब्दो विशेष-गुणः चक्षुर्ग्रहणायोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात् स्पर्शवदित्यनुमानेन शब्दे विशे-षगुणत्वसिद्ध्या स्वरूपासिद्ध्यभावात् ।

न च शब्दे द्रव्याश्रितत्वासिद्ध्या आकाशसाधकहेतोर्विशेष्यासिद्धत्वमिति वा-च्यम्, शब्दो द्रव्यसमवेतः गुणत्वात् संयोगवदित्यनुमानेन द्रव्याश्रितत्वसिद्धेः विशेष्यासिद्ध्यभावात् ।

जातिवाला है; स्पर्शके समान । इससे शब्दको विशेष गुण सिद्ध किया । फिर—शब्द द्रव्यमें समवायसम्बन्धसे रहता है क्योंकि वह गुण है, संयोगके समान । इस अनुमानसे शब्दका द्रव्यमें समवेत होना सिद्ध हो जानेपर अनुमान करते हैं कि शब्द, स्पर्शवाले किसी (द्रव्य) का विशेषगुण नहीं है, क्योंकि शब्द अग्निसंयोग नामक असमवायिकारणवाला न होनेपर भी अकारणगुणपूर्वक है और प्रत्यक्ष है, सुखके समान । पाकजरूपमें व्यभिचार रोकनेके लिए 'सति' तक लक्षणमें प्रविष्ट किया । अन्यथा अकारणगुणपूर्वक प्रत्यक्षत्व पृथ्वीके पाकजरूपमें भी रहनेके कारण दोष होगा । पटके रूपमें व्यभिचार-वारणके लिए 'अकारणगुणपूर्वक' का प्रवेश किया । जलपरमाणुरूपमें व्यभिचारवारण के लिए 'प्रत्यक्ष' पद दिया । इसके बाद फिर अनुमान करते हैं कि शब्द; दिशा, काल और मनका गुण नहीं है क्योंकि विशेषगुण है । आत्माका विशेषगुण नहीं है क्योंकि वह (शब्द) बाह्य इन्द्रिय (कर्णसे) ग्रहण करने योग्य है, जैसे 'रूप' । इस प्रकार शब्दगुणका अधिकरण (आठ द्रव्योंके अतिरिक्त) नवाँ द्रव्य आकाश सिद्ध होता है ।

न च वाय्ववयवेषु सूक्ष्मशब्दक्रमेण वायौ कारणगुणपूर्वकः शब्द उत्पद्यतामिति वाच्यम्, (१) अयावद्द्रव्यभावित्वेन वायुविशेषगुणत्वाभावात् ॥ ४४ ।

तत्र शरीरस्य विषयस्य चाभावादिन्द्रियं दर्शयति—

इन्द्रियं तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः ।

नन्वाकाशं लाघवादेकं सिद्धं श्रोत्रं तु पुरुषभेदेन भिन्नं कथमा-

---

ननु शब्दस्य वायुगुणत्वमेवास्त्वित्याशङ्कते—न च वाय्ववयवेष्विति ॥ ४४ ॥

जन्यानां जनक इति । एतेन कालिकसम्बन्धावच्छिन्नकार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितमधिकरणतया निमित्तत्वं काललक्षणं फलितम् । कालिकसम्बन्धावच्छिन्नेति निवेशाद्दिशि, अधिकरणतयेति दानादृष्टेश्वरयोर्नातिव्याप्तिः ।

नन्वेवमात्माश्रयः, कालिकपदस्य स्वरूपसम्बन्धविशेषपरत्वेनादोषात् ।

ननु कार्यमात्रं प्रति कालस्य निमित्तकारणत्वे किम्मानमिति चेत्? तदुत्पत्त्यधिकरणस्य तदुत्पत्तिहेतुत्वं, तदुत्पत्तिहेतोश्च तद्धेतुत्वमिति नियम एवेति गृहाण। कालस्य कार्योत्पत्त्यधिकरणत्वं तु 'अद्य घटो भविष्यति' 'श्वः घटो भविता' इति प्रत्ययात् ।

न च तत्तत्कार्यविशेषं प्रति तत्तत्कालविशेषस्य हेतुत्वसिद्धावपि कार्यसामान्ये न कालस्य हेतुत्वसिद्धिरिति वाच्यम्, 'यद्विशेषयोस्तत्सामान्ययोरपीति' न्यायेन कार्यमात्रे कालस्य हेतुत्वसिद्धेः ।

वायुके अवयवोंमें ही सूक्ष्म शब्दके क्रमसे वायुमें ही कारणगुणपूर्वक शब्द उत्पन्न हो जायगा यह शङ्का करना ठीक नहीं है। क्योंकि शब्द 'अयावद्द्रव्यभावी (अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्यमें व्यापकरूपसे न रहनेवाला) होनेसे वायुका विशेष गुण नहीं हो सकता ॥ ४४ ॥

आकाशसम्बन्धी शरीर और विषयके न होनेके कारण केवल इन्द्रियको दिखा रहे हैं।

आकाशकी इन्द्रिय श्रोत्र है। यद्यपि आकाश एक है फिर भी उपाधिके भेदसे श्रोत्र आदि अनेक नामोंसे भिन्न-भिन्न कहा जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि अनेक आकाश माननेमें गौरव होनेके भयसे लाघव देखकर एक आकाश माना गया। किन्तु श्रोत्र तो एक-एक पुरुष-भेदसे भिन्न भिन्न है।

---

(१) यावद्द्रव्यस्थितिकालस्थितिकत्वं यावद्द्रव्यभावित्वम्। यथा पृथिव्या गन्धादिगुणाः। शब्दस्तु न तथा आश्रयस्याकाशस्य सत्त्वेऽपि नाशात्। अतः अयावद्द्रव्यभावित्वमत अतो न वायुगुण इति भावः ।

काशं स्यादिति चेत्तत्राह—एकः सन्नपीत्यादि। आकाश एक एव सन्नपि उपाधेः कर्णशष्कुल्यादेर्भेदाद् भिन्नं श्रोत्रात्मकं भवतीत्यर्थः।

कालं निरूपयति—

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ॥ ४५ ॥

तत्र प्रमाणं दर्शयितुमाह—जगतामिति। तथाहि 'इदानीं घट' इत्यादिप्रतीतिः सूर्यपरिस्पन्दादिकं यदा विषयीकरोति, तदा सूर्यपरि-

---

न च कार्यमात्रे कालस्य हेतुता न सम्भवति स्वसमवेतद्वित्वपृथक्त्वादिकं प्रति कालस्य समवायिकारणतया समवायिकारणभिन्नत्वघटितस्य निमित्तकारणत्वस्य कालेऽसत्त्वादिति वाच्यम्, कालस्य समवायसम्बन्धेन द्वित्वादिकं प्रति समवायिकारणत्वेऽपि कालिकसम्बन्धेन निमित्तत्वानपायात् समवायिकारणत्वासमवायिकारणत्वभिन्नं कारणत्वं निमित्तकारणत्वमिति लक्षणात्।

ननु कालसद्भावे किम्मानमत आह—जगतामाश्रय इति। कालः सर्ववानिति प्रतीत्या जगदाश्रयत्वेन कालः सिद्ध्यतीति भावः।

ननु इयं प्रतीतिर्दिग्विषयिण्येवास्तु अतिरिक्तकालकल्पने मानाभावादिति चेत्? न, प्रत्ययान्तरेण कालसिद्धौ प्रकृतप्रतीतिबलेन कालस्य जगदाधारत्वं कल्प्यत इत्याशयात्। कालसाधक प्रमाणान्तरं किमिति चेद्? 'इदानीं घटः' इति प्रतीतिरेवेति गृहाण।

न च 'इदानीं घटः' इति प्रतीतिः सूर्यपरिस्पन्दमेव विषयीकरोति न कालमिति वाच्यम्, तावतापि सूर्यपरिस्पन्दस्य घटादिना सम्बन्धो वाच्यः स च संयोगो न सम्भवति 'द्रव्ययोरेव संयोग' इति नियमात्। नापि समवायः अन्यनिष्ठक्रियाया अन्यत्र समवायासम्भवात्। अपि तु स्वाश्रयतपन[illegible]योगिसंयोग एव। एवञ्च स्वं

तब आकाश एक माननेसे कार्य कैसे चल सकता है। किन्तु इसका उत्तर मूलमें ही दिया गया है कि आकाशके एक होने पर भी 'कर्णशष्कुली' आदि उपाधियों के भेदसे श्रोत्रके रूपमें आकाश भिन्न-भिन्न माना जाता है।

कालका निरूपण करते हैं—

उत्पन्न होनेवाले समस्त पदार्थोंका निमित्त कारण काल है और वह ही समस्त विश्वका (जगत्‌का) आधार भी है।

ग्रन्थकार कालमें प्रमाण दिखानेके लिए 'जगताम्' यह वाक्य कहा है। जैसे—'इस समयका घट' यह ज्ञान सूर्यके परिस्पन्दको (गतिको) जब विषय करता है। तब सूर्यकी गतिसे घटका सम्बन्ध कहना चाहिए। वह सम्बन्ध सयोग तो हो नहीं सकता क्योंकि द्रव्योंमें ही संयोग होता है। समवाय भी नहीं हो सकता क्योंकि सूर्यकी गतिका घटमें

स्पन्दादिना घटादेः सम्बन्धो वाच्यः। स च सम्बन्धः संयोगादिर्न सम्भवतीति काल एव तत्सम्बन्धघटकः कल्प्यते। इत्थं च तस्याश्रयत्वमपि सम्यक् ॥ ४५ ॥

प्रमाणान्तरं दर्शयति—

परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः।

परत्वापरत्वबुद्धेरसाधारणं निमित्तं काल एव। परत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसंयोगाश्रयो लाघवादतिरिक्तः काल एकः कल्प्यत इति भावः।

सूर्यक्रिया तदाश्रयः तपनः (सूर्यः) तत्संयोगी कालः यत्संयोगो घटे इति सम्बन्धघटकतया कालः सिध्यतीत्याशयात्।

न च सम्बन्धघटकसंयोगिपदेनाकाशादिकमेव गृह्यतां, तथा च नातिरिक्तकालसिद्धिरिति वाच्यम्, आकाशदिगात्मनां विनिगमनाविरहेणातिरिक्तैककालस्यैव संयोगिपदेन ग्रहणादित्यलम् ॥ ४५ ॥

परत्वापरत्वादिबुद्धेरिति। अयं भावः—कालिकपरत्वापरत्वे सासमवायिकारणके भावकार्यत्वात् घटादिवत् इत्यनुमानेन कालिकपरत्वापरत्वयोरसमवायिकारणं कालपिण्डसंयोगः सिध्यति इति तादृशसंयोगाश्रयतया कालसिद्धिरिति।

न च पृथिवीपिण्डसंयोगस्यैव परत्वापरत्वयोरसमवायिकारणत्वं कल्प्यतां, तथा च न कालसिद्धिरिति वाच्यम्, पृथिव्यसंयुक्तपदार्थेऽपि कालिकपरत्वापरत्वयोरुत्पादेन व्यभिचारात्।

ननु तथाप्याकाशदिगात्ममनोभिर्यः पिण्डसंयोगस्तस्यैव परत्वापरत्वयोरसमवायिकारणत्वमास्तां किं कालकल्पनयेत्यत आह—लाघवादिति।

समवाय नहीं रह सकता। इसलिए स्वाश्रयतपनसंयोगिसंयोग ही सम्बन्ध है। जैसे स्व = सूर्यक्रिया, उसका आश्रय तपन (सूर्य) उनसे संयोगी काल उसका संयोग घटमें। इस प्रकार काल ही सम्बन्ध बनानेवाला माना जाता है। इसी प्रकार व्यापक कालका सब पदार्थोंके साथ संयोग और कालसम्बन्धी प्रतीति होनेके कारण वह जगत्का आधार भी सिद्ध होता है ॥४५॥

कालकी सिद्धिमें प्रमाणान्तर दिखलाते हैं—

(कालकृत) परत्व और अपरत्व (यह छोटा है यह बड़ा है) बुद्धिका असाधारण कारण भी काल ही है। वह काल उपाधिके भेदसे क्षण आदिके रूपमें अनेक व्यवहृत होता है।

परत्व और अपरत्वरूप ज्ञानका असाधारण निमित्तकारण काल ही है। (तात्पर्य यह है कि कालकृत परत्व और अपरत्वके, समवायिकारण हैं, क्योंकि 'यह भाव कार्य है, घटके समान' इस अनुमानसे कालकृत) परत्व और अपरत्वका असमवायिकारण जो संयोग-

नन्वेकस्य कालस्य सिद्धौ क्षणदिनमासवर्षादिसमयभेदो न स्यादत आह—

क्षणादिरिति। कालस्त्वेकोऽप्युपाधिभेदात्क्षणादिव्यवहारविषयः। उपाधिस्तु स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म, पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभावो वा, उत्तरसंयोगावच्छिन्नं कर्म वा।

अयम्भावः। विनिगमनाविरहेण लाघवादतिरिक्त एकः कालः कल्प्यते इति।

स्वजन्येति। इदमत्राकूतम् क्रिया, क्रियातो विभागः, विभागात्पूर्वसंयोगनाशः, तत उत्तरदेशसंयोगः, ततः क्रियानाशः, इति। एवं च स्वं क्रिया तज्जन्यविभागप्रागभावविशिष्टकर्मण उपाधित्वाङ्गीकारेण क्रियोपलक्षितकालस्य प्रथमक्षणत्वम्।

न च क्रियायाः क्षणचतुष्टयं स्थितिसम्भवात् तादृशकालस्यापि क्षणत्वापत्तिरिति वाच्यम्। विभागाद्यधिकरणकालस्य क्रियाजन्यविभागप्रागभावानधिकरत्वेनादोषात्। स्वजन्यविभागप्रागभावमात्रस्योपाधित्वाङ्गीकारे विभागप्राग्वर्तिक्षणेषु क्षणत्वापत्तिरतः क्रियेत्युक्तम्।

पूर्वसंयोगेति। विभागमात्रस्योपाधित्वे विभागोत्तरकालेऽपि द्वितीयक्षणत्वापत्तिः। पूर्वसंयोगमात्रस्य तथात्वे च विभागपूर्वकालेऽपि द्वितीयक्षणत्वापत्तिः। उभयोपादाने तु पूर्वसंयोगविभागयोरधिकरणीभूते काले एव द्वितीयक्षणव्यवहार इति।

पूर्वसंयोगनाशेति। पूर्वसंयोगनाशमात्रस्य तृतीयक्षणोपाधित्वे पूर्वसंयोगनाशोत्तरक्षणेऽपि तृतीयक्षणत्वापत्तिः। उत्तरसंयोगप्रागभावमात्रस्य तथात्वे च पूर्वसंयोगनाशात्प्राक्कालेऽपि क्षणत्वापत्तिरत उभयमुपात्तम्।

उत्तरसंयोगेति। उत्तरसंयोगमात्रस्योपाधित्वे उत्तरसंयोगानन्तरकालेऽपि चतुर्थ-

---

(काकपिण्डका संयोग) उसका आश्रय लाघवके कारण काल ही माना जाता है। किन्तु यदि काल भी एक ही माना जाय तो क्षण, दिन, मास और वर्ष आदि समयका भेद कैसे होगा। इसके उत्तरमें कहना है कि काल है तो एक ही किन्तु उपाधिके भेदसे क्षण आदि व्यवहार उसमें होता है। यहाँ क्षणकी उपाधिके चार लक्षण हैं।

(१) वह कर्म जो अपने कर्मसे उत्पन्न होनेवाले विभागके प्रागभावसे अवच्छिन्न हो। (२) वह विभाग जो पूर्वसंयोगसे अवच्छिन्न हो। (३) पूर्वसंयोगनाशसे अवच्छिन्न उत्तरदेशसंयोग का प्रागभाव और (४) उत्तरसंयोगसे अवच्छिन्न कर्म। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि पहले क्षणमें क्रिया, फिर क्रियासे विभाग, फिर पूर्वसंयोगनाश तब उत्तरदेशसंयोग तब क्रियाका नाश। यहाँ प्रथमक्षणकी क्रिया—वह कर्म है जो स्वयं उत्पन्न है किन्तु उससे उत्पन्न होनेवाले विभागके प्रागभावसे विशिष्ट है (अर्थात्

नचोत्तरसंयोगानन्तरं क्षणव्यवहारो न स्यादिति वाच्यं, कर्मान्तरस्यापि सत्त्वादिति। महाप्रलये क्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति तदानायत्या ध्वंसेनोपपादनीय इति दिनादिव्यवहारस्तु तत्तत्क्षणकूटैरेवेति।

दिशं निरूपयति—

दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते ॥ ४६ ॥

दूरत्वमन्तिकत्वं च दैशिकं परत्वमपरत्वं बोध्यम्। तद्बुद्धेरसाधारणं बीजं दिगेव। दैशिकपरत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसंयोगाश्रयतया लाघवादेका दिक् सिध्यतीति भावः ॥ ४६ ॥

क्षणत्वं स्यात्। कर्ममात्रस्य तथात्वे च क्षणचतुष्टयेऽपि चतुर्थक्षणत्वं स्यादत उपयोपादानम्। उपाधित्वं च परिचायकत्वम्।

अनायत्येति। अगत्येत्यर्थः। ध्वंसेनेवेति। स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोगिप्रतियोगिकयावद्ध्वंसविशिष्टसमयस्यैव क्षणव्यवहारविषयत्वमिति भावः। स्वं प्रलयः तद्वृत्तिध्वंसप्रतियोगिनो ये घटपटादयो यावन्तो तेषां ध्वंसविशिष्टः समयः स एवेति समन्वयः।

दैशिकपरत्वेति। दैशिकपरत्वापरत्वे सासमवायिकारणके भावकार्यत्वात्, इत्य

विभाग नहीं उत्पन्न हुआ है। द्वितीयक्षणका विभाग—जो पूर्वक्षणमें संयोगविशिष्ट है। विभाग होनेके पूर्वक्षणमें वह संयुक्त था ही। तृतीयक्षण—पूर्वसंयोगके नाशसे विशिष्ट उत्तरदेशसंयोगका प्रागभाव है। क्योंकि पूर्वसंयोग नाश हो जाने पर और उत्तरदेशसंयोग होनेके पूर्व ही तृतीयक्षण है। चतुर्थक्षणमें उत्तरदेशसे संयोगविशिष्ट कर्म है। क्योंकि विभाग होने के बाद उत्तरदेशसे संयोग हो गया है। इस प्रकार पाँचवें क्षणमें क्रियाका नाश हो जाता है। उपाधिका अर्थ है परिचायक।

यहाँ यह शंका करना नितान्त अनुचित है कि उत्तरदेशसंयोगके बाद क्षणव्यवहार नहीं करना चाहिए। क्योंकि दूसरे भी कर्म हैं जो क्षणव्यवहार करा देंगे और यदि महाप्रलयके समय भी क्षणव्यवहार होता है तो अगत्या प्रलयकालमें वर्तमान ध्वंसके प्रतियोगी जो घट, पट आदि पदार्थ उनके ध्वंससे विशिष्ट समयको ही क्षण मानना पड़ेगा। इसी प्रकार दिन आदिका व्यवहार भी उन-उन क्षणोंके समूहोंसे होगा।

दिशाका निरूपण करते हैं—

यह दूर है, यह समीपमें है इस बुद्धिका कारण दिक् पदार्थ है। वह एक और नित्य है दूरत्व और अन्तिकत्व ये दैशिक परत्व और अपरत्व हैं। उस परत्व और अपरत्व बुद्धिका असाधारण कारण दिक् है। (दिक् भी अनुमानसे सिद्ध है। जैसे—दैशिक परत्व और अपरत्वके भी समवायिकारण हैं, क्योंकि वह भावकार्य है, इस अनुमान से) दैशिक परत्व-

नन्वेकैव दिक् तदा प्राचीप्रतीच्यादिव्यवहारः कथमुपपद्यतामित्यत आह—

उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ।

यत्पुरुषस्य उदयगिरिसन्निहिता या दिक् सा तस्य प्राची । एवमुदयगिरिव्यवहिता या दिक् सा प्रतीची । एवं यत्पुरुषस्य सुमेरुसन्निहिता या दिक् सोदीची । तद्व्यवहिता त्ववाची । 'सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः' इति नियमात् ।

आत्मानं निरूपयति—

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ॥ ४७ ॥

नुमानेन दैशिकपरत्वापरत्वयोरसमवायिकारणं । दिक्पिण्डसंयोगः सिध्यति तदाश्रयत्वेन च दिक् सिध्यतीति तदाशय इति भावः ॥ ४६ ॥

यत्पुरुषेति । पुरुषपदं मूर्तपरम् । तथा च यन्मूर्तापेक्षया उदयगिरिसन्निहितं यन्मूर्तं तन्मूर्तावच्छिन्ना दिक् तन्मूर्तापेक्षया प्राची । एवं यन्मूर्तापेक्षया उदयगिरिव्यवहितं यन्मूर्तं तन्मूर्तावच्छिन्ना दिक् तन्मूर्तापेक्षया प्रतीची । एवं यन्मूर्तापेक्षया सुमेरुगिरिसन्निहितं यन्मूर्तं तन्मूर्तापेक्षयोदीची । एवं यन्मूर्तापेक्षया सुमेरुगिरिव्यवहितं यन्मूर्त्तं तन्मूर्तावच्छिन्ना दिक् तन्मूर्तापेक्षया दक्षिणेति ।

वर्षाणां । देशानाम् ।

दीधितिकारास्तु । दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते मानाभावात् तत्तत्कालोपाधिदिगुपाधिविशिष्टेश्वरादेव क्षणादिप्राच्यादिव्यवहारसम्भवादित्याहुः ।

ननु स्वात्मनि स्वरूपत आत्मत्वस्य मानसप्रत्यक्षविषयत्वेऽपि अन्यात्मनोऽप्रत्य-

---

और अपरत्वका असमवायिकारण जो संयोग उसके आधारके रूपमें दिक् सिद्ध होती है, यह तात्पर्य है ॥ ४६ ॥

अब यह प्रश्न उठता है कि जब दिक् एक ही है तब पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण व्यवहार कैसे होगा । सुनिए,

उपाधियोंके भेदसे एक होने पर भी 'प्राची' आदि व्यवहारोंसे युक्त है ।

जिस पुरुषके लिए जो दिशा उदयाचलसे समीप है वह उसके लिये पूर्व दिशा है । और जो दिक् उदयाचलसे दूर हैं वह पश्चिम है । इसी प्रकार जिस पुरुषके लिए जो दिक् सुमेरुसे सन्निहित है वह उत्तर है और जो व्यवहित (दूर) है वह दक्षिण दिशा है । क्योंकि नियम है कि सुमेरुपर्वत सब देशोंसे उत्तरकी ओर स्थित है ।

आत्माका निरूपण करते हैं ।

इन्द्रिय आदि करणोंका अधिष्ठाता आत्मा है । क्योंकि जो करण होता है वह कर्ताको

आत्मत्वजातिस्तु सुखदुःखादिसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति। ईश्वरेऽपि सा जातिरस्त्येव। अदृष्टादिरूपकारणाभावान्न सुखदुःखाद्युत्पत्तिः, नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भाव इति नियमस्याप्रयोजकत्वात्।

परे त्वीश्वरे सा जातिर्नास्त्येव प्रमाणाभावात्। न च दशमद्रव्यत्वापत्तिः, ज्ञानवत्त्वेन विभजनादित्याहुः।

त्वेन सकलात्मसाधारणानुगतप्रत्ययासम्भव इति अनेकसमवेतत्वघटितजातित्वग्रहेऽनेकव्यक्तिग्रहहेतुतायाः सर्वसिद्धत्वादात्मत्वस्य स्वरूपतो ग्रहेऽपि तद्गतजातित्वं न प्रत्यक्षमत आत्मत्वस्य जातित्वेऽनुमानं प्रमाणयति—आत्मत्वजातिस्त्विति। समवायसम्बन्धावच्छिन्नसुखत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नात्मनिष्ठा कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वादित्यनुमानेनात्मत्वजातिसिद्धिरिति भावः।

नन्वीश्वरे सुखानुत्पादनेन सुखसमवायिकारणत्वस्य तत्राभावादीश्वरसाधारणी आत्मत्वजातिर्न सिध्येदिति चेद् न; फलोपधायकतारूपकारणतायास्तत्राऽसत्त्वेऽपि स्वरूपयोग्यतारूपकारणतायास्सत्त्वेन तदवच्छेदकतया सिध्यन्त्या आत्मत्वजातेरीश्वरसाधारण्यात्।

न च 'नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भावनियमेन' ईश्वरे स्वरूपयोग्यतारूपसुखकारणतायाः सत्त्वे कदाचित्सुखोत्पादेन भवितव्यमिति कदाचिदपि सुखोत्पादाभावः स्वरूपयोग्यताख्यकारणतामपि ततो निवर्तयतीति वाच्यम्।

जलपरमाणौ स्वरूपयोग्यतारूपकारणतायास्सत्त्वे स्नेहाद्युत्पादेन तादृशनियमस्याप्रयोजकत्वात्।

नन्वीश्वरे स्वरूपयोग्यतारूपकारणसत्त्वे सुखं कुतो नोत्पद्यते इति चेद् न मिथ्याज्ञानस्यादृष्टं प्रति हेतुता मुक्तात्मन्यदृष्टोत्पत्तिवारणायाङ्गीकर्त्तव्येति। मिथ्याज्ञानस्येश्वरेऽभावेन सुखकारणीभूतादृष्टासत्त्वेन सुखोत्पादासम्भवात्।

इत्याहुरिति। अत्रारुचिबीजं तु वेदस्थात्मपदस्य ज्ञानवति लक्षणापत्तिरेवेति बोध्यम्।

अपेक्षा करता है। आत्मत्व जाति तो अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होती है। अनुमान का आकार मयूखमें लिखा है। वह जाति सुख दुःख आदिकी समवायिकारणताके अवच्छेदकके रूपमें सिद्ध होती है। यह आत्मत्व जाति ईश्वरमें भी है ही। किन्तु अदृष्ट आदि कारणोंके न होनेसे ईश्वरमें सुखदुःखकी उत्पत्ति नहीं होती। नित्य पदार्थके स्वरूपता योग्य होनेपर ही फल अवश्य होता है यह नियम अनुकूल तर्क न होनेसे अप्रयोजक है।

दूसरे लोगोंका मत है कि ईश्वरमें आत्मत्व जाति नहीं रहती क्योंकि कोई प्रमाण

इन्द्रियादीति। इन्द्रियाणां शरीरस्य च परम्परया चैतन्य-सम्पादकः।

यद्यप्यात्मनि 'अहं जाने, अहं सुखी' इत्यादिप्रत्यक्षविषयत्वमस्त्येव तथापि विप्रतिपन्नं प्रति प्रथमत एव शरीरादिभिन्नस्तत्प्रतीतिगोचर इति प्रतिपादयितुं न शक्यत इत्यतः प्रमाणान्तरं दर्शयति-करणमिति। कुठारादीनां छिदादिकरणानां कर्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम्। एवं चक्षुरादीनां ज्ञानकरणानां फलोपधानमपि कर्तारमन्तरेण नोपपद्यत इत्यतिरिक्तः कर्ता कल्प्यते॥ ४७॥

ननु शरीरस्यैव कर्तृत्वमस्त्वत आह—

शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः।
तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः॥ ४८॥

ननु 'सति धर्मिणि धर्मा' इति न्यायेन आत्मसद्भावे एव किम्मानमत आह—इन्द्रियाद्यधिष्ठातेति।

परम्परयेति। जनकता सम्बन्धेनेन्द्रियाणाम् अवच्छेदकतया सम्बन्धेन शरीरस्य चैतन्यं (ज्ञानवत्त्वं) बोध्यम्॥ ४७॥

नहीं है और वह दशम द्रव्य भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उक्त नियम मानने वाले अष्टम द्रव्यका विभाग आत्मत्व रूपसे नहीं करते किन्तु ज्ञानवत्त्वरूपसे ही विभाग करते हैं।

इन्द्रिय अंशपर विचार करते हैं—इन्द्रियों और शरीरका परम्परा सम्बन्धसे चैतन्य-सम्पादक भी आत्मा है। विशेषता इतनी है कि जनकतासम्बन्धसे इन्द्रियोंका और अवच्छेदकतासम्बन्धसे शरीरके चैतन्यका (ज्ञानवत्त्वका) सम्पादक है।

यद्यपि आत्मा 'मैं जानता हूँ, मैं सुखी हूँ' इत्यादि रूपसे प्रत्यक्षका विषय होता ही है तथापि विरुद्धमतिवालोंको (अर्थात् जो आत्माका प्रत्यक्ष नहीं मानते) पहले ही यह नहीं बतलाया जा सकता कि शरीर आदिसे भिन्न आत्मा ही उस प्रतीतिका विषय है। इसलिए दूसरा प्रमाण दिखलाते हैं 'करणम्' इत्यादि अंशसे। जैसे कुठार आदि जो लकड़ी काटनेके साधन हैं वे कर्ता के बिना फलको उत्पन्न नहीं करते। वैसे नेत्र आदि भी जो ज्ञान के कारण हैं, वे भी कर्ताके बिना ज्ञानरूप फल उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिए अतिरिक्त कर्ता (आत्मा) की कल्पना की जाती है॥ ४७॥

चार्वाक दर्शन—शरीरको ही कर्ता मानता है। अतः उसका प्रश्न है कि शरीर ही कर्ता क्यों न मान लिया जाय इसके उत्तर में कहना है कि—

शरीरमें चैतन्य नहीं मान सकते हैं। क्योंकि मरे हुए देहमें चैतन्य न रहनेसे

ननु चैतन्यं ज्ञानादिकमेव, मुक्तात्मनां त्वन्मत इव मृतशरीराणामपि तदभावे का क्षतिः, प्राणाभावेन ज्ञानाभावस्य सिद्धेरिति चेन्न, शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थाविरे स्मरणानुपपत्तेः, शरीराणामवयवोपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात् ।

न च पूर्वशरीरोत्पन्नसंस्कारेण द्वितीयशरीरे संस्कार उत्पद्यत इति वाच्यम् , अनन्तसंस्कारकल्पने गौरवात् ।

एवं शरीरस्य चैतन्ये बालकस्य स्तन्यपाने प्रवृत्तिर्न स्यात् , इष्टसाधनताज्ञानस्य तद्धेतुत्वात्तदानीमिष्टसाधनतास्मारकाभावात् । मन्मते तु जन्मान्तरानुभूतेष्टसाधनत्वस्य तदानीं स्मरणादेव प्रवृत्तिः ।

त्वन्मत इवेति । यथा त्वन्मते (नैयायिकमते) मुक्तानां ज्ञानाभावेन ज्ञानाधिकरणस्वरूपं चैतन्यं नास्ति तथा मम (चार्वाकस्य) मतेऽपि मृतशरीरस्य न चैतन्यमिति भावः ।

ननु नैयायिकमते मुक्तानां ज्ञानाभावे प्राणविशिष्टात्मनो विरह एव प्रयोजकः, तव चार्वाकस्य मते मृतशरीराणां ज्ञानाभावे कः प्रयोजक इत्यत आह—प्राणाभावे-

---

व्यभिचार होता है । यदि इन्द्रियों का धर्म चैतन्य मान लिया जाय तब भी ठीक नहीं क्योंकि इन्द्रियोंके नष्ट हो जानेपर स्मृति कैसे होगी ।

अब प्रश्न यह है कि (ज्ञान, इच्छा आदि) को ही चैतन्य कहते हैं और जैसे तुम्हारे नैयायिकोंके मतमें मुक्त आत्मामें ज्ञान इच्छा आदि नहीं रहती वैसे हमारे (चार्वाकके) मतमें मृत शरीरमें भी ज्ञान आदिके न रहने पर भी क्या हानि है ? क्योंकि प्राणाभावसे ज्ञानाभावकी सिद्धि हो जायगी । किन्तु यह प्रश्न ठीक नहीं क्योंकि शरीरको चैतन्य मान लेनेसे बचपनमें देखी हुई वस्तुका बुढ़ापामें स्मरण नहीं होना चाहिए । कारण यह है कि देहोंके अवयवोंमें जो वृद्धि और ह्रास होते हैं उनसे यह मानना पड़ता है कि शरीर नया-नया उत्पन्न होता रहता है और नष्ट भी होता रहता है । और यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले देहसे उत्पन्न संस्कार से ही दूसरे देहमें संस्कार उत्पन्न होता है क्योंकि अनन्त संस्कारकल्पना करनेमें गौरव होगा । इसी प्रकार शरीरमें चैतन्य माननेसे बालककी स्तनसे दूध पीनेकी प्रवृत्ति नहीं होगी । क्योंकि प्रवृत्तिके लिए 'इसमें मेरा कल्याण है' यह ज्ञान होना आवश्यक है । उस समय (जब बालकको कोई ज्ञान नहीं है) इष्टसाधनताका स्मारक कोई नहीं है । मेरे (नैयायिक और वैशेषिकके) मतमें तो शरीरसे अलग नित्य आत्मा है जो बालकके देहमें है वह अपने पूर्वजन्ममें अनुभूत इष्टसाधनाको जन्मान्तरमें स्मरण करके ही प्रवृत्त होता है । यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि

न च जन्मान्तरानुभूतमन्यदपि स्मर्यतामिति वाच्यम्, उद्बोधकाभावात्। अत्र स्तनपानस्य तु जीवनादृष्टमेवोद्बोधकं कल्प्यते।

इत्थं च संसारस्यानादितया आत्मनोऽनादित्वसिद्धावनादिभावस्य नाशासम्भवान्नित्यत्वं सिद्ध्यतीति बोध्यम्।

ननु चक्षुरादीनामेव ज्ञानादिकं प्रति करणत्वं कर्तृत्वं चास्तु, विरोधे साधकाभावादत आह—तथात्वमिति। चैतन्यमित्यर्थः। उपघाते-नाशे सति अर्थाच्चक्षुरादीनामेव!

कथमिति। पूर्वं चक्षुषा साक्षात्कृतानां चक्षुषोऽभावे स्मरणं न स्यात्, अनुभवितुरभावात्। अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणासम्भवात्। अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावादिति भावः ॥४८॥

ननु चक्षुरादीनां चैतन्यं मास्तु मनसस्तु नित्यस्य चैतन्यं स्यादत आह—

नेति। स्वन्मतापेक्षया लाघवात् प्राणाभावस्यैव ज्ञानाभावे प्रयोजकत्वोपगमो मन्मते (चार्वाकमते) इति भावः ॥ ४८ ॥

जन्मान्तर में अनुभूत सब कुछ स्मरणमें आ जाना चाहिए क्योंकि कोई उद्बोधक (स्मरण दिलाने वाला) नही है। स्तनपानके बारेमें तो अगत्या जीवनका अदृष्ट ही स्मरण दिलाता है यह मानना पड़ता है।

इस प्रकार, संसारके अनादि होनेके कारण आत्मा भी अनादि सिद्ध हुआ और अनादि भावपदार्थका नाश होता नहीं, इसलिए आत्मा नित्य सिद्ध होता है।

हाँ, यह शंका हो सकती है कि नेत्र आदि इन्द्रियाँ ही ज्ञानके प्रति कारण और कर्ता दोनों क्यों न मान ली जाँय? क्योंकि इसके विरोधमें कोई साधक युक्ति नहीं है। इसके उत्तरमें कहना है कि नेत्र आदिको चैतन्य मान लेनेसे नेत्र आदिके नष्ट हो जानेपर स्मृति कैसे होगी ॥ ४८ ॥

कथम् आदि अंशकी व्याख्या करते हैं—नेत्रसे पहले देखे हुए पदार्थोंका नेत्रके नाश हो जानेपर स्मरण नहीं होगा। क्योंकि उस समय अनुभव करनेवाला (नेत्र) ही नहीं है और नेत्रसे देखे गए पदार्थोंका दूसरे इन्द्रियसे स्मरण हो नहीं सकता क्योंकि समान आश्रयमें रहनेवाले अनुभव और स्मरणमें कार्यकारणभाव माना गया है ॥ ४८ ॥

यदि नेत्र आदि इन्द्रियोंमें चैतन्य न हो किन्तु मन तो नित्य है उसे चैतन्य माननेमें क्या हानि है इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि—

मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ।
धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः ॥ ४९ ॥

मनोऽपीति । न तथा न चेतनम् । ज्ञानादीति । मनसोऽणुत्वात्प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वान्मनसि ज्ञानसुखादिसत्त्वे तत्प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यर्थः । यथा मनसोऽणुत्वं तथा वक्ष्यते ।

नन्वस्तु विज्ञानमेवात्मा तस्य स्वप्रकाशरूपत्वाच्चेतनत्वम् , ज्ञानसुखादिकं तु तस्यैवाकारविशेषः तस्यापि भावत्वादेव क्षणिकत्वं पूर्वपूर्वविज्ञानस्योत्तरोत्तरविज्ञाने हेतुत्वात् सुषुप्तावप्यालयविज्ञानधारा निराबाधैव, मृगमदवासनावासितवसन इव पूर्वपूर्वविज्ञानजनितसंस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने संक्रान्तत्वान्नानुपपत्तिः स्मरणादेरिति चेद्—

वक्ष्यते इति । 'अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते' इति ग्रन्थेनेति शेषः ।

विज्ञानमेवेति । विज्ञानवादिमते वस्तुमात्रस्यैव विज्ञानरूपत्वाभ्युपगमेऽात्मप्रस्तुतत्वादात्मेत्युक्तमिति नैतावता न्यूनत्वमाशङ्कनीयम् । द्विविधं हि विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानमालयविज्ञानं च 'अयं घटः' इत्यादिप्रवृत्तिविज्ञानम् । अहमित्याकारकं ज्ञानम् आलय-विज्ञानम् । तदुक्तम्—

'तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम् ।
तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं नीलपीतादिके भवेत्' ॥ इति ॥

मन भी चैतन्य नहीं है क्योंकि चेतन माननेपर ज्ञान आदिका प्रत्यक्ष नहीं होगा। अतः धर्म और अधर्मका आश्रय आत्मा माना जाता है। उसका प्रत्यक्ष सुख-दुःख आदि विशेष गुणोंके सम्बन्धसे होता है।

'मनोऽपि' इसकी व्याख्या करते हैं कि मन चेतन नहीं है क्योंकि मन अणुपरिमाणवाला है। प्रत्यक्ष होनेमें महत्परिमाणको कारण माना गया है। यदि मनमें ज्ञान और सुख आदि मान लिए जायँ तो इनका प्रत्यक्ष ही न हो सकेगा। मनके अणु परिमाण का प्रकार हम ८५ कारिकाकी व्याख्यामें बतलायेंगे।

क्षणिक विज्ञानात्मवादिमत

योगाचार बौद्धोंका मत है कि—आत्मा नामका अलग द्रव्य न मानकर विज्ञानको ही आत्मा मान लेना चाहिए। यह विज्ञान स्वयं प्रकाशरूप है अतः चेतन है। (यह विज्ञान दो प्रकारका है एक प्रवृत्तिविज्ञान दूसरा आलयविज्ञान। 'यह घट है' यह ज्ञान प्रवृत्ति विज्ञान है और 'मैं' यह ज्ञान आलय-विज्ञान है। ज्ञान और सुख आदि भी उसी विज्ञानके विशेष आकार हैं। विज्ञान एक भावपदार्थ है इसलिए क्षणिक है। किन्तु पूर्व-पूर्व

न, तस्य जगद्विषयकत्वे सर्वज्ञत्वापत्तिः। यत्किञ्चिद्विषयकत्वे विनिगमनाविरहः। सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्गाच्च। ज्ञानस्य सविषयत्वात्। तदानीं निराकारा चित्सन्ततिरनुवर्तत इति चेन्न, तस्याः स्वप्रकाशत्वे प्रमाणाभावात्। अन्यथा घटादीनामपि ज्ञानत्वापत्तिः।

न चेष्टापत्तिर्विज्ञानव्यतिरिक्तवस्तुनोऽभावादिति वाच्यं, घटादेरनुभूयमानस्यापलपितुमशक्यत्वात्।

क्षणिकविज्ञानात्मवादिमतखण्डनम्।

ननु—विज्ञानमेवात्माऽऽस्तु किं ज्ञानाश्रयस्यात्मनः स्वीकारेण; तस्य स्वप्रकाशरूपत्वाच्चेतनम्। ज्ञानसुखादिकं तु विज्ञानस्यैवाकारविशेषः। विज्ञानं च भावः। एवञ्च भावाः क्षणिकाः भावत्वात् दीपशिखावत् इत्यनुमानेन तस्य क्षणिकत्वम् तथा च क्षणिकविज्ञानमात्मेति पर्यवसन्नम्।

न च सुषुप्तावात्मा न सिध्येत् पूर्वोत्पन्नविज्ञानस्य क्षणिकत्वेन नष्टत्वात्तदानीं पुरीतद्देशावच्छेदेन मनःसंयोगस्य सत्त्वेन ज्ञानकारणीभूतत्वङ्मनोयोगस्यासत्त्वेन विज्ञानान्तरस्योत्पत्तुमशक्यत्वादिति वाच्यम्, सुषुप्तौ घटः पट इति प्रवृत्तिविज्ञान·

विज्ञान अगले-अगले विज्ञान में कारण हैं। अतः सुषुप्ति-कालमें भी आलयविज्ञानकी धारा निर्बाध चलती ही रहती है। मृगमदकी (कस्तूरीकी) सुगन्धसे सुगन्धित वस्त्रके समान पूर्व-पूर्व विज्ञानसे उत्पन्न संस्कार आगे वाले विज्ञानोंमें चले जाते हैं। अतः पूर्व विज्ञानमें उत्पन्न संस्कार का अगले विज्ञान में ले जाने में किसी प्रकारकी बाधा नहीं है।

क्षणिक-विज्ञानात्मवादका खण्डन

किन्तु यह मत ठीक नहीं। क्योंकि विज्ञान आत्मा नहीं बन सकता। जैसे—विज्ञानको आत्मा माननेवाले सर्वजगद्विषयक विज्ञानको आत्मा मानते हैं, या किसी विशेषवस्तुविषयक विज्ञानको आत्मा मानते हैं, या निर्विषयक विज्ञानको आत्मा मानते हैं। यदि जगद्विषयक विज्ञान को आत्मा मानते हैं तो वह आत्मा सर्वज्ञ हो जायगा। यदि किसी विशेषवस्तुविषयक विज्ञानको आत्मा मानते हैं तो निर्णायक युक्ति न होनेके कारण किसे आत्मा माना जाय किसे न माना जाय यह निर्णय न हो सकेगा। जिससे सुषुप्ति-काल में भी विषयोंका ज्ञान होने लगेगा। क्योंकि ज्ञान सविषयक होता है। यदि निर्विषयक विज्ञानको आत्मा मानते हैं तो उसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि यह कहा जाय कि सुषुप्ति कालमें निराकार चेतनकी सन्तति (परम्परा=धारा) चलती है तो यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसके स्वप्रकाश होनेमें प्रमाण नहीं है। यदि प्रमाणके बिना भी उक्त धाराको निर्विषयक मानते हैं तो घट आदि भी विज्ञान होने लगेंगे। वस्तुमात्रको विज्ञान माननेवाले बौद्धोंके मतमें घटके ज्ञान होनेमें कोई आपत्ति नहीं, यह कहना भी उचित नहीं। क्योंकि

आकारविशेष एवायं विज्ञानस्येति चेत्, किमयमाकारोऽतिरिच्यते विज्ञानात्तर्हि समायातं विज्ञानव्यतिरिक्तेन। नातिरिच्यते चेत्तर्हि समूहालम्बने नीलाकारोऽपि पीताकारः स्यात्। स्वरूपतो विज्ञानस्याविशेषात्।

अपोहरूपो नीलत्वादिर्विज्ञानधर्म इति चेन्न, नीलत्वादीनां विरुद्धा-

---

स्यासत्वेऽपि अहमित्याकारकालयविज्ञानस्य सत्वेन विज्ञानरूपात्मसिद्धेः।

ननु विज्ञानस्यात्मत्वे तस्य क्षणिकत्वेन तदाश्रितसंस्कारस्यापि क्षणिकत्वात् कालान्तरे स्मरणं न स्यादिति चेद्? न मृगमदेन (कस्तूर्या) वासिते वसने कस्तूर्या अपनयनेऽपि यथा गन्ध उपलभ्यते तथा पूर्वपूर्वविज्ञानजनितसंस्काराणां पूर्वपूर्वविज्ञाननाशेऽपि उत्तरोत्तरविज्ञाने सङ्क्रमेण स्मरणोपपत्तेरिति चेद्, न विज्ञानस्यात्मत्वासम्भवात्। तथाहि, विज्ञानमात्मेति वदतस्तव जगद्विषयकं यत्किञ्चिद्विषयकं निर्विषयकं वा विज्ञानमात्मेत्यभिमतम्।

नाद्यः, आत्मनां सर्वज्ञत्वापत्तेः।

न द्वितीयः, विनिगमनाविरहेण किंविषयकं विज्ञानमात्मा किंविषयकं नेत्यनिर्णयापत्तौ सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्गाच्च।

न तृतीयः निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात् अन्यथा निर्विषयत्वाविशेषाद्घटादीनामपि ज्ञानत्वं स्यात्। नचेष्टापत्तिस्तन्मते वस्तुमात्रस्यैव विज्ञानरूपत्वाभ्युपगमादिति वाच्यम्, विज्ञानव्यतिरिक्तत्वेनानुभूयमानस्य घटादेरपलपितुमशक्यत्वात्।

नन्वाकारविशेष एव विज्ञानस्य घटादिरिति चेदुच्यते आकारस्य विज्ञानातिरिक्तत्वे वस्तुमात्रस्य विज्ञानरूपत्वप्रतिज्ञाभङ्गः अनतिरिक्तत्वे नीलपीते इति समूहालम्बनस्थले नीलाकारोऽपि पीताकारः स्यात् स्वरूपतो विज्ञानस्याविशेषात्।

न च नीलत्वादिजातेस्तैरनङ्गीकारेऽपि अपोह्यते इति अपोहः अतद्व्यावृत्तिः अर्थात् नीलेतराभावः तद्रूपं नीलत्वं स्वीक्रियते तदेव विज्ञानधर्मं इति न दोष इति

विज्ञानसे अतिरिक्त प्रतीत होनेवाले पदका लोप नहीं किया जा सकता।

यदि कहा जाय कि घट आदि पदार्थ विज्ञानका विशेष आकार है तो प्रश्न उठता है कि—क्या यह आकार विज्ञानसे अतिरिक्त है। यदि हाँ तो विज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य वस्तुका होना सिद्ध हो गया। यदि आकार विज्ञानसे अतिरिक्त नहीं मानते तो 'नीलपीत' इस समूहालम्बनात्मक ज्ञानके स्थलमें नील आकार भी पीत-आकार होगा, क्योंकि स्वरूपतः विज्ञान एक ही है। यदि नीलत्व आदि जातिके न माननेपर भी (अपोह) अतद्व्यावृत्ति (नीलसे इतरका अभाव) रूप ही नीलत्वको स्वीकार करके उसे ही विज्ञान धर्म माननेमें दोष

नामेकस्मिन्नसमावेशात् । इतरथा विरोधावधारणस्यैव दुरुपपादत्वात्, न वा वासनासङ्क्रमः सम्भवति, मातृपुत्रयोरपि वासनासङ्क्रमप्रसङ्गात् ।

न चोपादानोपादेयभावो नियामक इति वाच्यम् । वासनायाः सङ्क्रमासम्भवात् ।

उत्तरस्मिन्नुत्पत्तिरेव सङ्क्रम इति चेन्न, तदुत्पादकाभावात् । चितामेवोत्पादकत्वे संस्कारानन्त्यप्रसङ्गः । क्षणिकविज्ञानेऽतिशयविशेषः कल्प्यत इति चेन्न, मानाभावात्कल्पनागौरवाच्च ।

वाच्यम्, समूहालम्बनात्मकविज्ञाने विरुद्धयोर्नीलत्वपीतत्वयोः समावेशासम्भवात् ।

न च समूहालम्बनेन न नीलत्वेन वा पीतत्वमभ्युपगम्यते अपि तु चित्वमेव तथा च न दोष इति वाच्यम्, एवमपि मात्राऽनुभूतस्य गर्भस्थेन स्मरणापत्तिभिया पूर्वविज्ञानवासनासङ्क्रमस्योत्तरविज्ञाने उपपादयितुमशक्यत्वेन कालान्तरेऽनुभूतस्य कालान्तरे स्मरणस्योपपादयितुमशक्यत्वात् ।

न चोपादानोपादेयभावो वासनासङ्क्रमे प्रयोजक इति वाच्यम् वासनायाः सङ्क्रमासंभवात् ।

न च पूर्वविज्ञानेन उत्तरविज्ञानं वासनाविशिष्टमेवोत्पद्यते इति वाच्यम् । वासनाया उत्पादकासम्भवादिति क्षणिकविज्ञानं नात्मेति सिद्धम् ॥

नहीं है यह कहा जाय तो ठीक नहीं । क्योंकि समूहालम्बनात्मक विज्ञानमें विरुद्ध नीलत्व और पीतत्वका एक वस्तु में रहना सम्मत नहीं । यदि यह बात न मानी जाय तो विरोधका निश्चय करना कठिन हो जायगा और वासनाका संक्रम जैसा पहले कहा गया है नहीं हो सकता । क्योंकि माताकी वासनाका पुत्रमें सञ्चार होने लगेगा । यदि बौद्ध कहें कि उपादानगत वासनाका सञ्चार उपादेयमें होता है और माता पुत्रकी निमित्तकारण है जिससे वासनाका संक्रम नहीं होता तो ठीक नहीं । क्योंकि वासनाका संक्रम कहीं भी हो सकता नहीं । यदि कहा जाय कि अगले विज्ञानमें वासनाकी उत्पत्ति ही संक्रम है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उस विज्ञानमें वासनाका उत्पादक कोई है ही नहीं । यदि विज्ञान को ही उत्पादक मान लें तो ठीक नहीं क्योंकि अनन्त संस्कार मानना पड़ेगा ।

यदि यह माना जाय कि क्षणिक विज्ञानमें एक अतिशय उत्पन्न हो जाता है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अतिशय (विशेषता) उत्पन्न होनेमें कोई प्रमाण नहीं । यदि कहा जाय कि अनन्तवासनाकी कल्पना नहीं करनी पड़ेगी यही प्रमाण है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षणिक विज्ञानवादीको जिन विज्ञानोंमें जिन वस्तुओंका स्मरण होगा उसके पूर्ववाले विज्ञानमें उन पदार्थोंका संस्कार और उनकी उत्पत्तिके अनुकूल शक्तिकी भी कल्पना करनी पड़ेगी

एतेन क्षणिकशरीरेष्वेव चैतन्यं प्रत्युक्तं गौरवादतिशये मानाभावाच्च। बीजादावपि सहकारिसमवधानासमवधानाभ्यामेवोपपत्तेः कुर्वद्रूपत्वाकल्पनात्।

अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञाने गौरवान्नित्यविज्ञानमेवात्मा, अविनाशी-वाऽरेऽयमात्मा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेरिति चेद्? न तस्य

ननु क्षणिकशरीरमेवात्माऽस्तु इति चेद् न गौरवाद् वासनासङ्क्रमासम्भवेन स्मरणानुपपत्तेश्च।

ननु क्षेत्रस्थबीजादङ्कुरोत्पत्तिर्भवति कुसूलस्थबीजान्न भवति अतोऽङ्कुरत्वावच्छिन्नं प्रति कुर्वद्रूपत्वेन कारणता स्वीक्रियते। कुर्वद्रूपत्वं च अङ्कुरजनकतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेषः। स च फलोपधायके क्षेत्रस्थबीजे एव स्वीक्रियते न कुसूलस्थ-बीजे। एवं क्षणिकविज्ञाने क्षणिकशरीरे वा कुर्वद्रूपत्वेनैव उत्तरविज्ञाने उत्तरशरीरे वा वासनोत्पादकत्वं वाच्यमिति चेद् न, धरणिसलिलसंयोगादिरूपकारणसमवधा-नेऽङ्कुरोत्पादो न तदभाव इत्येव सिद्धे कुर्वद्रूपत्वेन कारणताङ्गीकारे मानाभावादित्यलम्।

जिससे गौरव ही होगा। इस प्रकार क्षणिक शरीरको आत्मा मानना भी खण्डित हो गया क्योंकि गौरव होनेके कारण किसी प्रकारका अतिशय नहीं माना जा सकता।

अब यह शङ्का रहती है कि जैसे खेतके बीजमें अङ्कुर जमता है और कुठले में रक्खे बीजमें अङ्कुर नहीं जमता इसलिए अङ्कुरके प्रति कुर्वद्रूपत्वेन बीज कारण होता है। फलको उत्पन्न करनेकी शक्तिको 'कुर्वद्रूपता' कहते हैं। वह एक प्रकारका धर्म है। यह धर्म खेतमें पड़े बीजमें है और कुठलेमें स्थित बीजमें नहीं माना जाता है। वैसे क्षणिक विज्ञान या क्षणिक शरीरमें कुर्वद्रूपताके द्वारा उत्तर विज्ञानमें या उत्तर विज्ञानमें वासनाकी उत्पत्ति मान लेनेमें क्या हानि है। ठीक; किन्तु जब बीजके विषयमें सहकारी (धरणीजलसंयोग आदि) कारणोंके रहनेपर अङ्कुरकी उत्पत्ति और न रहनेपर अंकुरकी उत्पत्ति नहीं इसी प्रकार माननेसे कार्य चलता है। तब 'कुर्वद्रूपता' नामके धर्मको कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

नित्यविज्ञानात्मवादिवेदान्तिमत और खण्डन

अस्तु, यदि क्षणिक विज्ञानको आत्मा माननेपर वासनासंक्रम न हो सकनेके कारण स्मरण नहीं होगा तब नित्यविज्ञानको आत्मा मान लिया जाय। क्योंकि श्रुति कहती है कि 'अरे, यह आत्मा अविनाशी है, ब्रह्म सत्यज्ञानस्वरूप और अनन्त है।' किन्तु यह अद्वैत-वेदान्तियोंका मत ठीक नहीं है क्योंकि उस ब्रह्म का सविषयक होना असम्भव है। यह बौद्धमत खण्डनके अवसरपर कह दिया है। जैसे जगद्विषयक विज्ञान आत्मा है या

सविषयत्वासम्भवस्य दर्शितत्वात् । निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्स-विषयत्वस्याप्यननुभवात् अतो ज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम् ।

'सत्यं ज्ञानमि'ति हि ब्रह्मपरं जीवेषु नोपयुज्यते । ज्ञानाज्ञानसुखित्वा-दिभिर्जीवानां भेदसिद्धौ सुतरामीश्वरभेदः अन्यथा बन्धमोक्षव्यवस्था-नुपपत्तिः । योऽपीश्वराभेदबोधको वेदः सोऽपि तदभेदेन तदीयत्वं प्रतिपादयन् स्तौति । अभेदभावनयैव यतितव्यमिति वदति । अत एव

नित्यविज्ञात्मवादिवेदान्तिमतखण्डनम् ।

ननु क्षणिकविज्ञानस्यात्मत्वे वासनासङ्क्रमासम्भवेन स्मरणानुपपत्तिरतो नित्य-विज्ञानमेवात्मास्तु । न च ज्ञानस्य नित्यत्वे मानाभाव इति वाच्यम् 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेरेव मानत्वादिति चेत्—

न, विज्ञानस्यात्मत्वासम्भवात् । तथाहि, जगद्विषयकं यत्किञ्चिद्विषयकं निर्विष-यकं वा विज्ञानमात्मा ? नाद्यः; जीवात्मनां सर्वज्ञत्वापत्तेः । न द्वितीयः विनिगमका-भावप्रसङ्गात् । न तृतीयः निर्विषयकस्य ज्ञानत्वे मानाभावात् आत्मनां ज्ञानरूपत्वे सविषयकत्वेनानुभवापत्तेश्च । तस्माज्ज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम् ।

न च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभिर्ज्ञान-रूपता आत्मन आस्थीयते इति वाच्यम्, 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' 'आनन्दं ब्रह्मणो

यत्किञ्चित्विषयक विज्ञान आत्मा है या निर्विषयक विज्ञान आत्मा है यदि जगद्विषयक विज्ञानको आत्मा मानते हो तो आत्माको सर्वज्ञ होना चाहिए । यदि यत्किचिद्विषयक विज्ञानको आत्मा मानते हो तो किसको आत्मा मानें, किसे न मानें, इस प्रकारकी किसी युक्तिके न होनेसे विनिगमनाविरहदोष होगा । यदि निर्विषयक विज्ञानको आत्मा माने तो उसमें कोई प्रमाण नहीं । यदि आत्माको ज्ञानरूप मान लें तो सविषयक आत्माका अनुभव होना चाहिए, किन्तु होता नहीं है । इसलिए ज्ञान आदिसे भिन्न नित्य आत्मा सिद्ध होता है ।

'सत्यं ज्ञानं' इस श्रुतिमें जो आत्माको ज्ञानस्वरूप और सत्य कहा है वह ब्रह्मके लिए कहा गया है उसे जीव पर लगाना उपयुक्त नहीं । क्योंकि ज्ञान और अज्ञान, सुख और दुःख आदिसे युक्त होने न होनेसे जीवोंमें जब परस्पर भेद सिद्ध है तब जीवसे और ईश्वर से भेद तो सुतरां सिद्ध है । जीवात्माओंमें भेद न माननेसे तो बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी । इसी प्रकार जो ईश्वर और जीवमें अभेद बतलाने वाले 'अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि' इत्यादि वेद-वाक्य हैं वे भी उस ईश्वर से अभेद बतलाकर जीवात्मामें परमात्माका सम्बन्ध बतलाते हुए स्तुति करते हैं । (अर्थात अभेद भावना रखकर यत्न करना चाहिए यह ही कहा गया है ।) इसीलिए 'सब ही आत्मामें समर्पित है' यह श्रुति भी कहती है । 'मोक्षदशामें अज्ञानकी निवृत्ति हो जाने

'सर्वं एवात्मनि समर्पिताः' इति श्रूयते। मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्ताव-भेदो जायत इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वेन नाशायोगात्। भेदनाशेऽपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येव। न च द्वित्वमपि नश्यतीति वाच्यं, तव निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यत्वाभावेऽपि सत्यस्वरूपं तदितिवद् द्वित्वाभावेऽपि व्यक्तिद्वयात्मकौ ताविति सुवचत्वात्। मिथ्यात्वाभावोऽधिकरणात्मक-स्तत्र सत्यत्वामति चेदेकत्वाभावो व्यक्तिद्वयात्मको द्वित्वमित्युच्य-ताम्। प्रत्येकमेकत्वेऽपि पृथ्वीजलयोर्न गन्ध इतिवदुभयं नैकमि-त्यस्य सर्वजनसिद्धत्वात्। योऽपि तदानीमभेदप्रतिपादको वेदः सोऽपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति, सम्पदाधिक्ये 'पुरोहि-तोऽयं राजा संवृत्त' इतिवत्। अतएव 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति श्रूयते। ईश्वरोपि न ज्ञानसुखात्मा किन्तु ज्ञानाद्याश्रयः 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादौ 'विज्ञानपदेन ज्ञानाश्रय एवोक्तः 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्याद्यनुरोधात्। आनन्दमित्यस्याप्यानन्दवदित्यर्थः।

विद्वान्' इत्यादिश्रुत्यनुरोधेन 'नित्यं विज्ञानमानन्दम्' इत्यादिश्रुतौ ज्ञानादिपदाना·

पर अभेद हो जाता है' यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि भेद नित्य हैं और उसका नाश होता नहीं है। यदि मान लिया जाय कि भेद अन्योन्याभाव नहीं किन्तु पृथक्त्व गुण है और उस गुणका नाश होता है तो भी दो व्यक्ति तो रह ही जायगें। यदि वेदान्ती द्वित्वका नाश मानते हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि जैसे वेदान्तीके मतमें धर्मरहित ब्रह्ममें 'सत्यत्व' नामक धर्म नहीं रहता फिर भी वह ब्रह्म सत्यस्वरूप माना जाता है। वैसे द्वित्वधर्म के नाश हो जाने पर भी 'वे दोनों (जीव और ब्रह्म) दो व्यक्ति हैं' यह तो सरलतासे कहा जा सकता है। यदि 'मिथ्यात्वाभाव' जो कि अधिकरण (ब्रह्म) स्वरूप है, वही यहां 'सत्यत्व' है कहा जाय तो दो व्यक्तियोंमें रहनेवाला एकत्वाभाव ही द्वित्व है यह कह सकते हैं। दो व्यक्तियोंमेंसे प्रत्येकमें एकत्व होने पर भी 'पृथ्वीजलमें गन्ध नहीं है यह ज्ञान जैसे होता है वैसे 'दो एक नहीं है' यह व्यवहार भी सर्वजनप्रसिद्ध है। और जो मोक्षदशामें अभेद बतलाने वाला 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' यह वेद है वह भी मोक्षदशामें जीव और ब्रह्ममें 'निर्दुःखत्व' रूपसे दोनोंमें समानता बतलाता है। जैसे सम्पत्तिके अधिक हो जानेपर 'यह पुरोहित राजा बन गया' यह व्यवहार होता ही है। इसलिए 'निरञ्जनके (परमात्माके) साथ अत्यन्त समानता मिलती है' श्रुति भी यही कहती है, एकता नहीं। ईश्वर भी ज्ञान और सुखस्वरूप नहीं है किन्तु ज्ञान और सुखका आश्रय है। 'ब्रह्म नित्य, विज्ञान और आनन्द है' इस वेदमें पठित विज्ञानपदसे ज्ञानका आश्रय यही अर्थ समझना

अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययात् । अन्यथा पुँल्लिङ्गत्वापत्तिः । आनन्दोऽपि दुःखाभावे उपचर्यते, भाराद्यपगमे सुखी संवृत्तोऽहमितिवत् दुःखाभावेन सुखित्वप्रत्ययवत् । अस्तु वा तस्मिन्नानन्दो न त्वसावानन्दः, 'असुखम्' इति श्रुतेः । न विद्यते सुखं यस्येति कुतो नार्थ इति चेद् ? न, क्लिष्टकल्पनापत्तेः, प्रकरणविरोधादानन्दमित्यत्र मत्वर्थीयाच्प्रत्ययविरोधाच्चेति सङ्क्षेपः ।

एतेन प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः किंतु चेतनः ।

मर्शआद्यजन्तत्वाङ्गीकारेण आत्मनो ज्ञानसुखाद्याश्रयत्वस्य सिद्धावपि ज्ञानसुखादिरूपत्वासिद्धेरित्यलम् । इति वेदान्तिमतखण्डनम् ।

साङ्ख्यमतखण्डनम् ।

एतेनेति । पूर्वोक्तयुक्त्याऽऽत्मनो ज्ञानवत्त्वसाधनेन वक्ष्यमाणयुक्त्या चेत्यर्थः । ननु 'किन्तु चेतन' इत्युक्त्वा पुरुषस्य साङ्ख्यमते ज्ञानवत्त्वाभ्युपगमात् आत्मनो ज्ञानवत्त्वसिद्धेर्न साङ्ख्यमतप्रतिक्षेपकत्वमिति एतेनेत्यस्य पूर्वोक्तयुक्त्या ज्ञानवत्त्वसाधनेनेत्यर्थवर्णनमयुक्तमिति चेद् ?

चाहिए। क्योंकि 'जो सर्वज्ञ है यह सब कुछ जानता है' इस वाक्यसे भी यही अर्थ निकलता है। श्रुतिमें पठित 'आनन्दम्' पदका भी 'आनन्दवाला' यह ही अर्थ है। 'अर्श आदि गणमें पठित होनेके कारण 'अर्श आदिभ्योऽच् ८।३।१२७।' इस सूत्रसे आश्रय अर्थमें मत्वर्थीय ,अच् प्रत्यय हुआ है।' यदि अच् प्रत्यय न मानकर सुखवाचक आनन्द शब्द मानें तो नित्य पुँलिङ्ग होने लगेगा। फिर 'आनन्दम्' यह नपुंसकरूप नहीं बनेगा। यह आनन्द शब्द 'दुःखाभाव' अर्थमें गौणरूपसे प्रयुक्त होता है। जैसे शिर के ऊपरसे बोझ उतरनेपर 'मैं सुखी हो गया' इस प्रकारका व्यवहार होता है। यह प्रतीति दुःखाभावमें सुखप्रतीतिके समान है। यदि मान ही लिया जाय कि ईश्वर या मुक्तात्मामें आनन्द रहता है तो भी आत्मा आनन्दरूप नहीं सिद्ध हो सकता। क्योंकि श्रुतिमें 'असुखम्' कहा गया है। जिसका अर्थ है कि 'आत्मा या ब्रह्म सुख या आनन्दरूप नहीं है' यदि 'नहीं है सुख जिसमें' यह बहुव्रीहि समासका अर्थ क्यों न मान लिया जाय यह पूछते हो तो सुनो, इस प्रकार अर्थ माननेपर क्लेशयुक्त अधिक कल्पना करनी पड़ती है। प्रकरणका विरोध होता है और 'आनन्दम्' इस पदमें मत्वर्थीय अच् प्रत्ययका भी विरोध होगा। इसलिए ज्ञान और सुखका आश्रय ही आत्मा सिद्ध हुआ।

साङ्ख्यमत और खण्डन

इस प्रकार साङ्ख्यमत भी खण्डित हो गया। साङ्ख्यका मत है कि 'प्रकृति' ही करनेवाली

कार्यकारणयोरभेदात् कार्यनाशे सति कार्यरूपतया(१)तन्नाशोपि न स्यादित्यकारणत्वं तस्य। बुद्धिगतचैतन्याभिमानान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पनम्। बुद्धिश्च प्रकृतेः परिणामः। सैव महत्तत्त्वम्, अन्तःकरणमित्युच्यते। तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां पुरुषस्य संसारापवर्गौ। तस्या एवेन्द्रियप्रणालिकया परिणतिर्ज्ञानरूपा घटादिना सम्बन्धः। पुरुषे कर्तृत्वाभिमानो बुद्धौ चैतन्याभिमानश्च भेदाग्रहात्। ममेदं कर्तव्यमिति

न, चेतनस्य तन्मतेऽपि ज्ञानरूपत्वाभ्युपगमेन ज्ञानत्वसिद्धेस्तन्मतप्रतिक्षेपकत्वात् अन्यथा चेतनातिरिक्तज्ञानाभ्युपगमे तस्य—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'॥

इति परिगणितपञ्चविंशतितत्त्वमध्येऽप्रविष्टतया तत्त्वाधिक्यापत्तेः। प्रकृतिः १ ततो महान् २ (बुद्धिः) ततोऽहङ्कारः ३ ततः पञ्चतन्मात्राणि (शब्द ४ स्पर्श ५ रूप ६ रस ७ गन्धाः ८) पञ्चतन्मात्रेभ्यः क्रमेण आकाश ९ वायु १० तेजो ११ जल १२ भूमयः १३ (पञ्च भूतानि) अहङ्कारादेव चक्षु १४ रसना १५ घ्राण १६ श्रोत्र १७ त्वगा १८ ख्यानि (ज्ञानेन्द्रियाणि) मुख १९ पाणि २० पाद २१ पायू २२ पस्था २३ ख्यानि (कर्मेन्द्रियाणि) मनः २४ (ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियम्) जायन्ते पुरुषः २५ इति पञ्चविंशतिः तत्त्वानि साङ्ख्यैरभ्युपगम्यन्ते।

है पुरुष तो कमलपत्रके समान सबसे अलग है, किन्तु चेतन है। कार्यकारणमें अभेद होनेसे कार्यके नाश हो जाने पर कार्यरूप होनेसे पुरुषका भी नाश न हो जाय इसीलिए वह किसी भी कार्यका कारण नहीं है। किन्तु बुद्धिमें 'मैं चेतन हूँ' इस प्रकार चैतन्यका अभिमान बिना माने पुरुष नहीं बन सकता। अतः पुरुषकी कल्पना की गई है। बुद्धि प्रकृतिका परिणाम है। उसे ही महत्तत्त्व (महान्) अन्तःकरण भी कहते हैं। बुद्धिके होने पर पुरुषके लिए संसार (जन्मादि) और न होने पर अपवर्ग (मोक्ष) होता है। और उसी बुद्धिका ही इन्द्रियरूपी प्रणालीके (पनारीके) द्वारा घट, पट आदिसे सम्बन्ध ही ज्ञानरूप परिणाम होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान बुद्धिका धर्म है पुरुषका नहीं पुरुषमें 'मैं कर्ता हूँ' यह अभिमान और बुद्धिमें 'मैं चैतन्य हूँ' यह अभिमान बुद्धि और पुरुषमें भेदग्रह न होनेसे है। 'मेरा यह कर्तव्य है' अर्थात् अमुक विषयकी ओर मुझे प्रवृत्त होना है। इस वाक्य में तीन अंश है। जिसमें 'मेरा' यह अंश पुरुषका उपराग (प्रतीति) है; जो कि बुद्धिके स्वच्छ होनेके कारण और उसमें पुरुषके प्रतिबिम्ब पड़नेके

---

(१) न स्यादिति माभूदित्यर्थः। तन्नाशोऽपि पाठस्तु साधीयान्।

मदंशः पुरुषोपरागो बुद्धेः स्वच्छतया तत्प्रतिबिम्बादतात्त्विको दर्पणस्येव मुखोपरागः। इदमिति विषयोपरागः, इन्द्रियप्रणालिकया परिणतिभेदस्तात्त्विको निःश्वासाभिहतदर्पणस्येव मलिनिमा। कर्तव्यमिति व्यापारांशः। तेनांशत्रयवती बुद्धिस्तत्परिणामेन ज्ञानेन पुरुषस्यातात्त्विकः सम्बन्धो दर्पणमलिनिमेव मुखस्योपलब्धिरुच्यते। ज्ञानवत्सुखदुःखेच्छाद्वेषधर्माधर्मा अपि बुद्धेरेव कृतिसामानाधिकरण्येन प्रतीतेः। न च बुद्धिश्चेतना परिणामित्वादिति मतमपास्तम्।

ननु प्रकृतेर्गुणैः सत्त्वरजस्तमोरूपैः क्रियमाणानि कर्माणि भवन्ति अहङ्कारोऽहं प्रत्ययस्तेन मूढः आत्माऽन्तःकरणं तस्य स पुरुषः कर्ताहमिति मन्यते इत्यर्थकेन 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः, कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' इति भगवद्गीतावचनेन प्रकृतेरेव कर्तृत्वं प्रतीयते, न पुरुषस्य। किन्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः सः 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुत्या तस्याऽकारणत्वावगमेन 'पुरुषः कर्तृत्वाभाववान् कारणत्वाभावात्' इत्यनुमानेन च पुरुषेऽकर्तृत्वसिद्धेः।

युक्तं चैतत्, अन्यथा पुरुषस्य कारणत्वाभ्युपगमे कार्यकारणयोः साङ्ख्यमतेऽभेदात् कार्यनाशे तन्नाशः स्यात्।

नचैतादृशपुरुषस्यानङ्गीकार एव वरं प्रयोजनाभावादिति वाच्यम्, क्वचित्प्रसिद्धस्यैव चैतन्यस्य बुद्धावारोपसम्भवेन बुद्धिगतचैतन्याभिमानोपपत्तये तत्कल्पनात्। बुद्धिरेव महत्तत्त्वमिति साङ्ख्यैरुच्यते।

न च पुरुषस्याकर्तृत्वे तत्र धर्माधर्मयोरुत्पादासंभवेन तदधीनसुखदुःखयोरपि तत्रानुत्पादात् दुःखध्वंसरूपो मोक्षः पुरुषस्य न स्यादिति मोक्षार्थं प्रकृतिपुरुषविवेकस्यापि नापेक्षेति तदर्थं क्रियमाणं साङ्ख्यशास्त्रमप्यनर्थकं स्यादिति वाच्यम्, बुद्धिसत्त्वे इन्द्रियद्वारा बुद्धिपरिणामेन घट इत्यादिज्ञानसम्बद्धो घटादिर्विषयः घटाद्याकारज्ञानपरिणामिबुद्धया सान्निध्यरूपदोषेण अगृहीतभेदवत्त्वसम्बन्धेन पुरुषनिष्ठः-

---

कारण अवास्तविक है। जैसे दर्पणमें पड़ा हुआ मुखका उपराग (प्रतीति) अवास्तविक है। 'यह' इदं अंश विषयका उपराग (प्रतीति) है। जैसे निश्वाससे आहत दर्पण में मलिनता वास्तविक होती है वैसे इन्द्रियरूपी प्रणालीमे (पनारीसे) बुद्धिका वास्तविक परिणाम है। और 'कर्तव्य' (विषयकी ओर प्रवृत्ति) यह अंश व्यापार है। इस प्रकार तीन अंशोंसे युक्त बुद्धिके भिन्न-भिन्न ज्ञान आदि परिणामोंसे पुरुषका अवास्तविक सम्बन्ध होता है। जैसे दर्पणकी मलिनिमासे मुखका सम्बन्ध अवास्तविक है। इसे ही उपलब्धि कहते हैं। ज्ञानकी भाँति सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म और अधर्म आदि भी बुद्धिके ही धर्म हैं। क्योंकि ये धर्म कृतिके (प्रयत्नके) साथ एक ही अधिकरणमें रहनेवाले प्रतीत होते हैं।

कृत्यदृष्टभोगानामिव चैतन्यस्यापि सामानाधिकरण्यप्रतीतेस्तद्भिन्ने मानाभावाच्च। चेतनोऽहं करोमीति प्रतीतिश्चैतन्यांशे भ्रम इति चेत्कृत्यंशे किं नेष्यते। अन्यथा बुद्धेर्नित्यत्वे मोक्षाभावोऽनित्यत्वे तत्पूर्वमसंसारापत्तिः।

नन्वचेतनायाः प्रकृतेः कार्यत्वाद् बुद्धेरचैतन्यं कार्यकारणयोस्तादा-

---

पुरुषस्वरूपतिरोधायकः, पुरुषस्य संसारापादकः बुद्धिनाशे तु तत्परिणामस्य ज्ञानस्याभावेन विषयावच्छेदकाभावात् कैवल्यावस्थानरूपो मोक्षः दुःखसम्बन्धतद्ध्वंसरूपौ संसारमोक्षौ बुद्धेरेव न पुंसः भेदाग्रहादेव अहं बद्धो मुक्तो वेत्यभिमन्यते इति प्रकृतिपुरुषविवेकार्थं शास्त्रस्य सार्थक्यात्। एवं च धार्मिकोऽहं करोमीत्यादिप्रतीत्या कृतिसामानाधिकरण्येन प्रतीयमाना धर्मादयो बुद्धेरेवेति चेन्न।

चेतनोऽहं करोमीति प्रतीत्या ज्ञानसामानाधिकरण्येन प्रतीयमानकृतेः पुरुषनिष्ठत्वौचित्येन कृतिसामानाधिकरण्येन प्रतीयमानाधर्मादीनामपि पुरुषनिष्ठत्वौचित्यात्।

बुद्धि चेतन नहीं मानी जा सकती क्योंकि वह परिणामवाली है। (यह साङ्ख्यका मत है)

किन्तु साङ्ख्यका यह मत ठीक नहीं, क्योंकि कृति (प्रयत्न), अदृष्ट (धर्म-अधर्म) और भोगका (सुख-दुःखका) जो अधिकरण है चैतन्यका भी वही अन्तःकरण ही अधिकरण होना चाहिए। 'मैं चेतन करता हूँ' इस प्रतीतिमें चेतन और कर्ता एक ही जान पड़ता है। किन्तु कर्तृत्वका आश्रय, चेतन नहीं है, क्योंकि जन्यधर्मका आश्रय है, घटके समान, (कर्तृत्वाश्रयो, न चेतनः, जन्यधर्माश्रयत्वात्, घटवत्) इस अनुमानसे अन्तःकरणमें चैतन्याभाव सिद्ध होता है। इसलिये 'मैं चेतन करता हूँ' इस प्रतीतिके चैतन्य अंशमें यदि भ्रम मान लिया जाय तब भी निर्वाह हो सकता है। और चैतन्य का (पुरुष) तथा कर्ताके आश्रय (बुद्धिके) भिन्न होने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि जैसे 'मैं चेतन करता हूँ' इस प्रतीतिके चैतन्य अंशमें भ्रम मानते हो वैसे कृत्यंशमें भी भ्रम क्यों नहीं मान लेते (अर्थात् बुद्धिका धर्म न मानकर पुरुषका धर्म क्यों नहीं मान लेते।) यदि पुरुष और कर्तामें भेद मानते हैं तब कहिए कि बुद्धि नित्य है अथवा अनित्य। यदि बुद्धिको नित्य मानते हैं तब तो अन्तःकरणमें रहनेवाले सुखदुःखका अनुभव सदा पुरुषको होना चाहिए फिर मोक्षकी सिद्धि नहीं होगी। यदि बुद्धिको अनित्य मानते हैं तब तो अनित्य अन्तःकरणकी उत्पत्तिके पूर्व पुरुषको संसार (जन्ममरणका चक्र) नहीं हो सकता। इसलिए चैतन्य और कर्ताका ही आश्रय मानना चाहिए।

यदि यह कहा जाय कि प्रकृति अचेतन है अतः उससे उत्पन्न बुद्धि भी अचेतन है क्योंकि कार्य और कारणमें एकता (तादात्म्य) मानी जाती है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि-प्रयत्न, ज्ञान आदिका आश्रय जन्य है यह सिद्धि नहीं हो सकता। 'बुद्धिजन्य है

त्स्यादिति चेन्न, असिद्धेः। कर्तृजन्यत्वे मानाभावात्। वीतरागजन्मादर्शनादनादित्वम्, अनादिभावस्य नाशासम्भवान्नित्यत्वम्। तत्किं प्रकृत्यादिकल्पनेन।

न च—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यत' (गी० अ० ३।२७।) इत्यनेन विरोध इति वाच्यम्, प्रकृतेरदृष्टस्य गुणैरदृष्टजन्यैरिच्छादिभिः कर्ताहमेवेत्यस्य तदर्थत्वात्। 'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः' इत्यादि वदता भगवता प्रकटीकृतोऽयमुपरिष्टादाशय इति सङ्क्षेपः।

न चोक्तगीतावचनात् बुद्धेः कर्तृत्वसिद्धौ चेतनोऽहं करोमीतिप्रतीतिः चैतन्यांशे भ्रमो बुद्धेरचेतनप्रकृतिपरिणामित्वेनाचेतनत्वादिति वाच्यम् 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इत्यस्य प्रकृतेरदृष्टस्य गुणैरदृष्टजन्यैरिच्छादिभिः कर्ताऽहमेवेत्यस्य तदर्थतया आत्मनः स्वतन्त्रकर्तृत्वनिरासे तात्पर्यात्। तदुक्तं 'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः' इत्यादिना भगवतेत्यलम्। इति साङ्ख्यमतखण्डनम्।

अनादित्वमिति। अयम्भावः स्तन्यपाने बालस्य प्रवृत्तिर्नेष्टसाधनताज्ञानमन्तरा,

---

क्योंकि कर्ता है' इस अनुमानसे बुद्धिको प्रकृतिसे जन्य मानने में कोई आपत्ति नहीं यह भी कहना ठीक नहीं क्योंकि 'यत्र यत्र कर्तृत्वं, तत्र तत्र जन्यत्वं' इस प्रकार की कोई व्याप्ति नहीं है और इसके अनुकूल कोई तर्क भी नहीं है। जिससे यह व्याप्ति प्रामाणिक हो। हाँ, आपकी व्याप्तिके प्रतिकूल कर्ताको अनादि सिद्ध करने वाला तर्क हमारे पक्षमें है। जैसे—'वीतराग महात्माका जन्म नहीं होता' इससे यह सिद्ध होता है कि जन्ममें पूर्व-पूर्व जन्मके राग आदि कारण हैं। पूर्वजन्म तभी सिद्ध होगा जब कर्ताको अनादि माना जाय। अनादिका नाश नहीं होता इसलिए कर्ताको नित्य मानना पड़ता है। यदि बुद्धिकर्ता है तो उसे नित्य मानना पड़ेगा। नित्य मानने पर जो दोष होगा वह ऊपर कहा जा चुका है। यदि बुद्धिको नित्य मान लो तब भी प्रकृति आदिकी कल्पना तो व्यर्थ ही सिद्ध होगी।

अतः कर्ता और चैतन्य का आश्रय एक ही आत्माको मानना चाहिए। यदि यह कहिए कि गीताके 'प्रकृति'के गुणोंसे ही सब कार्य किये जा रहे हैं परन्तु अहङ्कारसे मूढ हुआ आत्मा यह समझता है कि 'मैं कर्ता हूँ' इस वचनसे विरोध होगा। क्योंकि इसमें प्रकृतिके गुणोंको ही कर्ता माना है आत्माको नहीं। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि गीताके इस श्लोकका अर्थ है कि 'प्रकृति' के (अदृष्टके) गुणोंसे (अदृष्टसे जन्य इच्छा आदिसे) कर्म होते हैं। किन्तु अहङ्कारसे मूढ हुआ आत्मा 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा

धर्माधर्माश्रय इति। आत्मेत्यनुषज्यते। शरीरस्य तदाश्रयत्वे देहान्तरकृतकर्मणां देहान्तरेण भोगानुपपत्तेः।

विशेषगुणयोगत इति। योग्यविशेषगुणस्य ज्ञानसुखादेः सम्बन्धेनात्मनः प्रत्यक्षत्वं सम्भवति न त्वन्यथा अहं जाने अहं करोमीत्यादिप्रतीतेः॥ ४९॥

प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः।
अहङ्कारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः॥ ५०॥

अयमात्मा परदेहादौ प्रवृत्त्यादिनाऽनुमीयते। प्रवृत्तिरत्र चेष्टा। ज्ञानेच्छायत्नादीनां देहेऽभावस्योक्तप्रायत्वाच्चेष्टायाश्च प्रयत्नसाध्यत्वाच्चेष्टया प्रयत्नवानात्मानुमीयत इति भावः।

तच्च नानुभवरूपं बाधाद् अपि तु स्मरणं तच्चानुभावान्तरसापेक्षमिति पूर्वजन्मसत्त्वमिति तत्रापि प्रवृत्तिरेवमेवेति आत्मनोऽनादित्वमिति भावः।

अनादिभावस्येति। अनादेरपि प्रागभावस्य नाशदर्शनेन भावस्येत्युक्तम्॥ ४९॥

मानता हैं। तात्पर्य यह है कि केवल आत्मा ही कार्यके प्रति कर्ता नहीं है। आत्मा अपनेको एकमात्र कर्ता समझता है यह उसकी भूल है। क्योंकि—'ऐसा होने पर जो केवल अपनेको कर्ता समझता है।' इस वचनके द्वारा भगवान्ने अपना आशय आगे चलकर गीता में ही स्पष्ट कर दिया है। अतः 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इस श्लोक का यही आशय मानते हैं।

'साङ्ख्यके मतका खण्डन समाप्त हुआ।

यह आत्मा धर्म और अधर्मका आश्रय है और उसके विशेष गुणों के सम्बन्धसे उस आत्माका प्रत्यक्ष होता है।

यदि शरीरको धर्म अधर्मका अधिकरण (आश्रय) मान लिया जाय तब पूर्वजन्मके देहसे किए गए कर्मोंका दूसरे जन्मके देहमें भोग नहीं बन सकता। विशेषगुणयोगतः—का अर्थ है कि योग्य (प्रत्यक्षयोग्य) विशेषगुण ज्ञान और सुख 'आदिके सम्बन्धसे आत्माका प्रत्यक्ष होता है। अन्यथा नहीं। क्योंकि 'मैं जानता हूँ, मैं करता हूँ' ये प्रतीतियाँ होती हैं। जिससे ज्ञान और क्रियाका आश्रय 'मैं' अर्थात् आत्मा सिद्ध है॥ ४९॥

जैसे रथका चलना देखकर सारथीका अनुमान होता है वैसे दूसरोंकी देहोंमें प्रवृत्ति (चेष्टा) देखकर आत्माका अनुमान होता है। क्योंकि अहंकारका आश्रय आत्मा है और केवल मनरूपी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

यह आत्मा दूसरे के देहमें प्रवृत्ति (चेष्टा) आदि के द्वारा अनुमानसे जाना जाता है। इस कारिकामें 'प्रवृत्ति' पदका 'चेष्टा' अर्थ है। ज्ञान, इच्छा और यत्न (प्रयत्न) आदिका

अत्र दृष्टान्तमाह—रथेति। यद्यपि रथकर्म चेष्टा न भवति, तथापि तेन कर्मणा सारथिर्यथाऽनुमीयते तथा चेष्टात्मकेन कर्मणा परात्मानुमीयते इति भावः।

अहङ्कारस्येति। अहङ्कारोऽहमितिप्रत्ययस्तस्याश्रयो विषयः आत्मा न शरीरादिरिति भावः।

मन इति। मनोभिन्नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयो मानसप्रत्यक्षविषयश्चेत्यर्थः। रूपाद्यभावेनेन्द्रियान्तरायोग्यत्वात् ॥ ५० ॥

परात्मानुमीयते इति। परदेहः आत्मवान् चेष्टावत्त्वाद्रथवदित्यनुमानेन परदेहादावात्मानुमीयते इति। न च दृष्टान्तासिद्धिः इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारानुकूलव्यापाररूपचेष्टाया रथेऽसत्त्वादिति वाच्यम्, चेष्टापदेन उत्तरसंयोगप्राप्तियोग्यक्रियया इव विवक्षणेनादोषात् तस्याश्च रथे सत्त्वेन दृष्टान्तासिद्ध्यभावात्। नचैवमपि जले व्यभिचारः चेष्टापदेन चेतनप्रयुक्तक्रियया एव विवक्षणेनादोषात् तस्याश्च रथे सत्त्वेन जले चासत्त्वेन दृष्टान्तासिद्धिव्यभिचारयोरभावात् 'भीषाऽस्माद्वातः पवते' इति श्रुत्या जलादीनामपि चेतनाधिष्ठितत्वसत्त्वेन व्यभिचाराभावाच्चेति ॥ ५० ॥

देहमें अभाव (शरीरस्य न चैतन्यम्' इत्यादि कारिकाओं में) प्रायः कहा जा चुका है। चेष्टा प्रयत्नसाध्य होती है। इसलिये चेष्टासे प्रयत्नवाले आत्माका अनुमान किया जाता है, यह तात्पर्य है। इसमें दृष्टान्त (उदाहरण) कहते हैं कि जैसे रथकर्म। यद्यपि रथका कर्म चेष्टा नहीं है तथापि जैसे रथकर्मसे सारथीका अनुमान (१) किया जाता है वैसे चेष्टारूप कर्मसे दूसरी आत्माका (देहसे भिन्न आत्माका) अनुमान किया जाता है यह अभिप्राय है। अहंकार—इत्यादि अंशका यह भाव है कि अहङ्कार अर्थात् अहं (मैं) यह प्रतीति इसका आश्रय (विषय) आत्मा है शरीर आदि नहीं। 'मन' इस अंशकी व्याख्या करते हैं कि जो मनसे भिन्न (अन्य) इन्द्रियोंसे जन्य जो प्रत्यक्ष अप्रत्यक्षका आश्रय (विषय) है और मानस प्रत्यक्षका विषय है। दूसरे इन्द्रियोंसे उसका प्रत्यक्ष इसलिए नहीं हो सकता कि उसमें रूप आदि का अभाव है ॥ ५० ॥

---

(१) दूसरेके देहमें आत्माका अनुमान—जैसे दूसरेके देहमें आत्मा है, क्योंकि उसमें चेष्टा है। रथके समान। यद्यपि हितप्राप्ति अहितनिवृत्तिके अनुकूल व्यापारको चेष्टा कहते हैं ऐसी चेष्टा रथमें नहीं है तथापि यहाँ रथमें चेष्टासे इतना ही समझना चाहिए कि उत्तरदेशसे संयोग प्राप्त करनेवाली क्रिया। इसी प्रकार जलमें चेष्टाके लक्षणकी अतिव्याप्ति रोकनेके लिए चेतनके द्वारा की गई क्रियाके द्वारा उत्तरदेशसंयोगप्राप्त करनेवाली क्रियाको ही चेष्टाका लक्षण मान लेनेसे कोई दोष नहीं है

त्रिभुर्बुद्ध्यादिगुणवान्बुद्धिस्तु द्विविधा मता ।
अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥ ५१ ॥

विभुत्वं परममहत्त्ववत्त्वम् । तच्च पूर्वमुक्तमपि स्पष्टार्थमुक्तम् । बुद्ध्यादीति । बुद्धिसुखदुःखेच्छादयश्चतुर्दश गुणाः पूर्वमुक्ता वेदितव्याः । अत्रैव प्रसङ्गाद् बुद्धेः कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति । बुद्धिस्त्विति ।

पूर्वमुक्ता इति । 'बुद्ध्यादिषट्कं सङ्ख्यादिपञ्चकं भावना तथा । धर्माधर्मौ गुणा एते आत्मनः स्युश्चतुर्दश' इत्यनेन साधर्म्यप्रकरणे इति शेषः । (पृष्ठ ७०)

आत्मा विभु है और बुद्धि, आदि गुणोंका आश्रय है । बुद्धि दो प्रकार की होती है । एक अनुभवरूपा और दूसरी स्मृतिरूपा । इसमें भी अनुभव चार (१) प्रकार का होता है ।

विभुत्वका अर्थ है परममहत्त्ववाला । यह पहले (का० २६ तथा २१-३३ में) कहा गया है फिर भी स्पष्टताके लिए पुनः कह दिया । 'बुद्धि' इत्यादि अंशकी व्याख्या करते हैं कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये चौदह गुण जो (का० ३२-३३ में गिनाये गए हैं) उन्हें ही समझ लेना चाहिए ।

यहींपर प्रसङ्गवश-बुद्धिका कुछ विस्तार बताते हैं । 'बुद्धिस्तु' इस अंशसे । अर्थात् बुद्धि दो प्रकारको है । एक अनुभूति और दूसरी स्मृति । अनुभूतिके चार भेद होते है । इन चार अनुभूतियोंके कारण भी चार ही हैं जो महर्षि गौतमके (सूत्र १।१।३) मे कहे

---

(१) अनुभवके बारेमें दार्शनिकोंमें मतभेद हैं । जैसे—

चार्वाक	प्रत्यक्ष	(एक प्रमाण)
कणाद और बौद्ध	प्रत्यक्ष और अनुमान	(दो प्रमाण)
अन्यतार्किक	उपमान भी	(तीन प्रमाण)
गौतम	शब्द भी	(चार प्रमाण)
प्राभाकर	अर्थापत्ति भी	(पांच प्रमाण)
कुमारिलभट्ट और वेदान्ती	अनुपलब्धि भी	(छ प्रमाण)
पौराणिक	सम्भव और ऐतिह्य भी	(आठ प्रमाण)

सांख्य और योग में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण माने गए हैं । वैयाकरण शब्द प्रमाणको महत्त्व देते हैं । वैयाकरण कितने प्रमाण मानते हैं । इसमें विवाद है । कुछ लोगोंका कहना है कि अर्थापत्ति प्रमाण भी मानते हैं अतः मीमांसकके समान इनके प्रमाण हैं । दूसरोंका कहना है कि पतञ्जलि और भर्तृहरि तीन प्रमाण सांख्य की तरह मानते हैं । अतः वैयाकरण सांख्यमतानुयायी हैं । कुछ लोग अभ्यास और अदृष्ट को भी प्रमाण मानते हैं । इनकी चर्चा वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में की गई है ।

द्वैविध्यं व्युत्पादयति। अनुभूतिरिति। अनुभूतिश्चतुर्विधेति। एतासां चतसृणां करणानि चत्वारि–'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानी'ति सूत्रोक्तानि वेदितव्यानि ॥ ५१ ॥

प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे ।
घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम् ॥ ५२ ॥

इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। यद्यपि मनोरूपेन्द्रियजन्यं सर्वमेव ज्ञानं, तथापीन्द्रियत्वेन रूपेणेन्द्रियाणां यत्र ज्ञाने कारणत्वं तत्प्रत्यक्षमिति विवक्षितम्। ईश्वरप्रत्यक्षं तु न लक्ष्यम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षो-

---

अनुभूतिश्चतुर्विधेति। अयमत्र संग्रहः, प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकः। अनुमितिरपि इति कणादबौद्धौ। उपमितिरपीति केचित्तार्किकाः। शब्दोऽपीति गौतमीयाः। अर्थापत्तिरपीति प्राभाकराः। अनुपलब्धिरपीति भाट्टा वेदान्तिनश्च। सम्भवैतिह्ये अपीति पौराणिकाः। तत्र प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदेनानुभवश्चतुर्विध इति सिद्धान्तिनः। अन्येषामन्तर्भावो मूलकृता व्यतिरेकिग्रन्थे कृतो मया च तत्रैव विवेचयिष्यते ॥ ५१ ॥

इन्द्रियत्वेन रूपेणेति । इन्द्रियत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतावत्त्वे सति ज्ञानत्वं प्रत्यक्षस्य लक्षणमिति भावः। अनुमित्यादौ च नेन्द्रियत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यता अपितु व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतेति नातिप्रसङ्गः।

ननु ईश्वरप्रत्यक्षस्य नित्यतया इदं लक्षणं तत्राव्याप्तमत आह–ईश्वरप्रत्यक्षमिति। इन्द्रियार्थेति। अव्यभिचारीत्यस्य भ्रमभिन्नमित्यर्थः। तथाच। इन्द्रियार्थसन्नि-

---

गये हैं। जैसे 'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण हैं' इन्हें ही यहाँ चार अनुभूतियोंके कारण भी समझ लेना चाहिए ॥ ५१ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दी ये चार प्रकारकी अनुभूतियाँ हैं। घ्राणज आदिके भेदसे प्रत्यक्ष छः प्रकारका होता है।

इन्द्रियसे उत्पन्न ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं यद्यपि मन नामक इन्द्रियसे सब ज्ञान उत्पन्न होते हैं। तथापि 'इन्द्रियत्व' रूपसे जिस ज्ञानमें इन्द्रियोंकी कारणता है वह प्रत्यक्ष होता है। यही तात्पर्य है। इस लक्षणका लक्ष्य ईश्वरका प्रत्यक्ष नहीं है अतः अव्याप्तिकी शङ्का नहीं करनी चाहिए। महर्षि गौतमने भी अपने सूत्र (१।१।४) में इसी प्रकार लक्षण किया है। जैसे—इन्द्रिय और अर्थके (घट आदिके) सन्निकर्षसे (संयोग आदि सम्बन्धसे)

त्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति (गौतम) सूत्रे तथैवोक्तत्वात्।

अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्य, उपमितौ सादृश्यज्ञानस्य, शाब्दबोधे पदज्ञानस्य, स्मृतावनुभवस्य कारणत्वात्तत्र तत्र नातिव्याप्तिः। इदं लक्षणमीश्वरप्रत्यक्षसाधारणम्। परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। यद्यपि परामर्शप्रत्यक्षादिकं परामर्शजन्यं तथापि परामर्शजन्यं हेत्वविषयकं यज्ज्ञानं तदेवानुमितिः। न च कादा-

---

कर्षोत्पन्नं भ्रमभिन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षं तच्च द्विविधम् अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकं च इति सूत्रार्थः। अव्यपदेश्यमित्यस्य निर्विकल्पकं व्यवसायात्मकमित्यस्य सविकल्पकमित्यर्थः।

ईश्वरप्रत्यक्षमपि लक्ष्यमित्यभिप्रेत्याह—अथवेति। घटादावतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यम्, अनुमित्यादावतिव्याप्तिवारणाय विशेषणम्। ननु ज्ञानाकरणकमित्यपहाय ज्ञानाजन्यमित्येवोच्यतामिति चेन्न, विशिष्टज्ञानमात्रस्य विशेषणज्ञानजन्यत्वादतिव्याप्त्यापत्तेः। न च निदिध्यासनद्वारा मननादिज्ञानकरणके योगप्रत्यक्षे इदं लक्षणमव्याप्तमिति वाच्यम्, ज्ञानकरणकत्वाव्यभिचारिजातिशून्यज्ञानत्वस्यैव प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमेनादोषात् तादृशी जातिरनुमितित्वादिरेव प्रत्यक्षत्वं ज्ञानकरणकत्वव्यभिचार्येवेति न दोषः।

परामर्शप्रत्यक्षेति। 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इत्याकारकज्ञानवानहमि'ति परामर्शप्रत्यक्षे विषयविधया परामर्शस्य कारणत्वादिति भावः। कादाचित्केति। 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इत्यनुमितौ पक्षतावच्छेदकविधया धूमस्य भानादिति भावः।

अव्यभिचारी (भ्रमभिन्न) ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। वह दो प्रकारका होता है एक अव्यपदेश्य (निर्विकल्पक और) व्यवसायात्मक (सविकल्पक)।

अथवा यदि ईश्वर प्रत्यक्ष भी लक्ष्य है तो 'अन्य ज्ञान जिसमें करण न हो उस ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं' इस प्रकार प्रत्यक्षका लक्षण मानना चाहिए। अनुमितिमें व्याप्तिज्ञान करण है, उपमिति में सादृश्यज्ञान करण है और शाब्दबोधमें पदज्ञान करण (असाधारण कारण) है। स्मृतिमें भी अनुभवज्ञान कारण है, इसलिए इस लक्षणकी इन सबोंमें अतिव्याप्ति भी नहीं होती है। यह लक्षण ईश्वर और जीव दोनोंके प्रत्यक्षोंका है। परामर्शसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको अनुमिति कहते हैं। यद्यपि 'वह्निव्याप्यधूमान् पर्वत इत्याकारकज्ञानवानहम्' यह परामर्शप्रत्यक्ष भी परामर्शजन्य है। इसमें भी अनुमितिका लक्षण चला जायगा और अतिव्याप्ति होगी। तथापि 'परामर्शसे जन्य और हेतुको विषय न करनेवाले

त्कहेतुविषयकानुमितावव्याप्तिरिति वाच्यम्, तादृशज्ञानवृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

अथवा व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः। एवं सादृश्यज्ञानकरणकं ज्ञानमुपमितिः। पदज्ञानकरणकं ज्ञानं शाब्दबोधः।

वस्तुतो यां काञ्चिदनुमितिव्यक्तिमादाय तद्व्यक्तिवृत्तिप्रत्यक्षा-

---

तथाच परामर्शजन्यं हेत्वविषयकं यज्ज्ञानं तद्वृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वमनुमितित्वमिति लक्षणं निष्पन्नम्। परामर्शजन्यहेत्वविषयकं ज्ञानं 'पर्वतो वह्निमान्' इति तद्वृत्तिरनुभवत्वव्याप्या जातिरनुमितित्वजातिस्तद्वत्त्वं 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इति हेतुविषयकानुमिताविति लक्षणसमन्वयः। घटज्ञानेऽतिव्याप्तिवारणाय जन्यान्तं, परामर्शप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय हेत्वविषयकमिति। परामर्शध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानपदम्। सत्त्वमादाय प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिवारणाय अनुभवत्वव्याप्येति।

ननु परामर्शजन्यमित्यस्य व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यमित्यर्थस्तथा च पक्षधर्मतानिवेशे गौरवमिति लघुलक्षणमाह—अथवेति।

नन्वनुमितिं प्रति न व्याप्तिज्ञानत्वेन कारणता अपितु ज्ञानत्वेन मनस्त्वेन वा। एवमुपमितिं प्रत्यपि बोध्यम्। सामग्रीवैलक्षण्यादेव ज्ञानवैलक्षण्योपपत्तिस्तथा चासम्भव इत्यरुचेराह—वस्तुत इति ॥ ५२ ॥

ज्ञान अनुमिति है' ऐसा अनुमितिका लक्षण किया जायगा। उक्त परामर्शप्रत्ययमें हेतुधूमका भी नाम है। अतः अतिव्याप्ति नहीं हुई।

यदि कदाचित् हेतुको भी विषय करनेवाली 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकारकी अनुमिति होगी तो इसमें उक्त लक्षण न जानेसे अव्याप्ति होगी। ऐसी अनुमिति होती तो है ही। इस अनुमितिमें धूम पर्वतमें विशेषण बनकर रहता है अतः धूमकी प्रतीति पक्षतावच्छेदकके रूपमें होती है। यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि—उक्त लक्षणका तात्पर्य है कि 'परामर्शसे जन्य हेतुका अविषय जो ज्ञान उसमें रहनेवाली अनुभवत्वव्याप्यजातिवाला होना'। जैसे परामर्शसे जन्यहेतुको न विषय करनेवाला 'पर्वतो वह्निमान्' ज्ञान उसमें रहनेवाली अनुभवत्वसे व्याप्य जाति अनुमितित्व जातिवाली 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकारकी अनुमिति उसमें भी लक्षण समन्वय होता है।

अथवा 'व्याप्तिज्ञान जिसका कारण हो वह ज्ञान अनुमिति है' इसी प्रकार सादृश्य ज्ञानके करण (कारण) ज्ञानको उपमिति कहते हैं। पद ज्ञानके कारण ज्ञानको शाब्दबोध कहते हैं। यह लक्षण ही मानना चाहिए। यद्यपि अनुमित्यादिके प्रति व्याप्तिज्ञानत्वेन कारणता न मानकर ज्ञानत्वेन मनस्त्वेन कारणता माननेसे कार्य चल जायगा। सामग्रीकी विलक्षणतासे ही ज्ञानोंमें विलक्षणता सिद्ध होगी। तथापि इस प्रकार

वृत्तिजातिमत्त्वमनुमितित्वम्। एवं यत्किञ्चित्प्रत्यक्षादिकमादाय तद्व्यक्तिवृत्त्यनुमित्यवृत्तिजातिमत्त्वं प्रत्यक्षत्वादिकं वाच्यमिति।

जन्यप्रत्यक्षं विभजते घ्राणजादीति। घ्राणजं रासनं चाक्षुषं स्पार्शनं श्रौत्रं मानसमिति षड्विधं प्रत्यक्षम्। न चेश्वरप्रत्यक्षस्याविभजनान्न्यूनत्वम्, जन्यप्रत्यक्षस्यैव निरूपणीयत्वादुक्तसूत्रानुसारात् ॥५२॥

घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः।

तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः ॥ ५३ ॥

गोचर इति ग्राह्य इत्यर्थः। गन्धत्वादीति। आदिपदात् सुरभित्वादिपरिग्रहः। गन्धस्य प्रत्यक्षत्वाद् वृत्तिजातिरपि प्रत्यक्षा। गन्धाश्रयग्रहणे तु घ्राणस्य न सामर्थ्यमिति बोध्यम्। तथा रस इति। रसत्वादिसहित इत्यर्थः। तथा शब्दोऽपि। शब्दत्वादिसहितः। गन्धो रसश्च उद्भूतो बोध्यः ॥ ५३ ॥

माननेसे असम्भव होगा। अतः 'वस्तुतः' कहते हैं। वस्तुतः 'किसी भी विशेष अनुमितिको लेकर उस अनुमिति व्यक्तिमें रहनेवाली और प्रत्यक्ष में न रहनेवाली जो जाति उस जातिवाला होना' ही अनुमितिका लक्षण है। इसी प्रकार 'किसी भी प्रत्यक्षकी विशेष व्यक्तिको लेकर उस व्यक्तिमें रहनेवाली और अनुमितिमें न रहनेवाली जातिवाला होना' प्रत्यक्षका लक्षण है। इसी प्रकार अन्यके भी लक्षण समझना चाहिए।

जन्य प्रत्यक्षका विभाग करते हैं—घ्राणज, रासन (रसनासे जन्य) चाक्षुष, स्पार्शन, श्रौत्र और मानस यह छः प्रकारका प्रत्यक्ष होता है। इसमें जन्यप्रत्यक्षोंका विभाग किया गया है। अतः ईश्वरप्रत्यक्षका विभाग न होनेसे न्यूनताकी शङ्का करनी ठीक नहीं। क्योंकि गौतमके सूत्र (१।१।४) के अनुसार जन्यप्रत्यक्षका ही विवेचन किया गया है ॥ ५२ ॥

घ्राण इन्द्रियका विषय (ग्राह्य) गन्ध तथा गन्धत्व आदि जाति भी कही गयी है। इसी प्रकार रसना (जिह्वा) इन्द्रियका विषय रस और श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द कहा गया है।

गोचर शब्दका ग्राह्य अर्थ है। आदि पदसे सुरभित्व, असुरभित्व आदि जातिका भी घ्राणेन्द्रिय ग्रहण करती है यह समझना चाहिए। गन्धप्रत्यक्ष है, अतः गन्धमें रहनेवाली जाति गन्धत्व भी प्रत्यक्ष है। किन्तु गन्धके आश्रय द्रव्यको (पुष्प आदिको) ग्रहण करनेका सामर्थ्य घ्राणमें नहीं है। रसत्वके सहित रसका ग्रहण रसना करती है। इसी प्रकार शब्दत्व सहित शब्दका प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रिय करती है। यहाँ गन्ध और रस उद्भूत समझना चाहिए ॥ ५३ ॥

उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये।
विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ॥ ५४ ॥

उद्भूतरूपमिति। ग्रीष्मोष्मादावनुद्भूतं रूपमिति न तत्प्रत्यक्षम्। तद्वन्ति उद्भूतरूपवन्ति ॥ ५४ ॥

क्रिया जातिर्योग्यवृत्तिः समवायश्च तादृशः।
गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥ ५५ ॥

योग्येति। पृथक्त्वादिकमपि योग्यव्यक्तिवृत्तितया बोध्यम्। तादृशः योग्यव्यक्तिवृत्तिरित्यर्थः। चक्षुर्योग्यत्वमेव कथं तदाह-गृह्णातीति। आलोकसंयोग उद्भूतरूपं च चाक्षुषप्रत्यक्षे कारणम्। तत्र द्रव्यचाक्षुषं प्रति तयोः समवायसम्बन्धेन कारणत्वम्। द्रव्यसमवेतरूपादिप्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन। द्रव्यसमवेतसमवेतस्य रूप-

---

स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेनेति। स्वमुद्भूतरूपमालोकसंयोगश्च तदाश्रयो द्रव्यं तत्समवायो रूपे कार्यतावच्छेदसम्बन्धश्च विषयता।

उद्भूतरूप (प्रकटरूप) नेत्रका गोचर (ग्राह्य) है और उद्भूत रूपवाले द्रव्य, पृथक्त्व, संख्या, विभाग, संयोग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व और परिमाण नेत्रसे ग्राह्य हैं।

ग्रीष्मऋतुकी गर्मी में उद्भूतरूप नहीं है अतः प्रत्यक्ष नहीं होता। तद्वन्तिका अर्थ है उद्भूत रूपवाली ॥ ५४ ॥

योग्य (प्रत्यक्ष) द्रव्यकी क्रिया और जाति तथा वैसा ही (प्रत्यक्ष योग्य ही) द्रव्यके समवायको आलोक (प्रकाश) और उद्भूतरूपके (प्रकट रूपके) सम्बन्धसे नेत्र ही ग्रहण करता है।

पृथक्त्व आदि भी योग्यमें (प्रत्यक्ष योग्यमें) रहते हैं। 'तादृश' पदकी व्याख्या। प्रत्यक्षयोग्य व्यक्तिमें रहनेवाला समवाय भी प्रत्यक्ष होता है। ये सब नेत्रके प्रत्यक्षयोग्य कैसे बनते हैं? इसका उत्तर देते हैं कि—आलोकका (प्रकाशका) संयोग और उद्भूतरूप चाक्षुष प्रत्यक्षमें कारण हैं। उसमें द्रव्यके (घट आदिके) चाक्षुष प्रत्यक्षमें आलोक संयोग और उद्भूतरूप ये दोनों समवाय सम्बन्धसे कारण हैं और द्रव्यमें (घटमें) समवाय-सम्बन्धसे रहनेवाले रूपके प्रत्यक्षमें स्वाश्रयसमवाय सम्बन्ध कारण है। जैसे—स्व-उद्भूतरूप और आलोकसंयोग उसका आश्रयद्रव्य उसमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाला रूप। द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले रूपमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले रूपत्वका

त्वादेः प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेनेति ॥ ५५ ॥

उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः ।
रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम् ॥ ५६ ॥

द्रव्याध्यक्षे—

उद्भूतेति । उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं त्वचो गोचरः । सोऽपि उद्भूतस्पर्शोऽपि स्पर्शत्वादिसहितः । रूपान्यदिति । रूपभिन्नं रूपत्वादिभिन्नं च यच्चक्षुषा योग्यं तत्त्वगिन्द्रियस्यापि ग्राह्यम् । तथा च पृथक्त्वसङ्ख्यादयो ये चक्षुर्ग्राह्या गुणा उक्ताः, एवं क्रिया जातयो योग्यवृत्तयश्च ते त्वचो ग्राह्या इत्यर्थः ।

अत्रापि त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षेऽपि रूपं कारणम् । तथा च बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणम् ।

स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेनेति । स्वमुद्भूतरूपमालोकसंयोगश्च तदाश्रयो द्रव्यं तत्समवेतं रूपं तत्समवायो रूपत्वे इति । पिशाचादीनां प्रत्यक्षवारणाय उद्भूतरूपस्य, अन्धकारे घटादिप्रत्यक्षवारणाय आलोकसंयोगस्य कारणता चाक्षुषं प्रतीति मन्तव्यम् ॥ ५५ ॥

त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षेऽपि रूपमिति अयमभिप्रायः त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे स्पर्शस्य चक्षुरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपस्य कारणत्वे गौरवमतो लाघवात् बहिरिन्द्रियद्रव्यप्रत्यक्षे रूपस्य कारणता स्वीक्रियते । न च वायोस्त्वाचप्रत्यक्षं न स्यादिति

प्रत्यक्ष स्वाश्रयसमवेतसमवाय सम्बन्धसे होता है । जैसे स्व = उद्भूतरूप और आलोकसंयोग उसका आश्रय द्रव्य उनमें समवेत रूप और उसका समवाय रूपत्वमें है ॥ ५५ ॥

उद्भूत स्पर्शवाला द्रव्य त्वक् इन्द्रियसे भी ग्राह्य है । रूपको छोड़कर जो भी नेत्रसे प्रत्यक्षके योग्य हैं वे भी त्वगिन्द्रियसे गृहीत होते हैं और त्वगिन्द्रियसे द्रव्यके प्रत्यक्षमें रूप ही कारण है ।

उद्भूत स्पर्शका आश्रय द्रव्य त्वक् इन्द्रियसे ग्राह्य है । उद्भूतस्पर्श भी स्पर्शत्वके सहित त्वगिन्द्रिय ग्राह्य है । रूपसे भिन्न और रूपत्वसे भिन्न जो भी नेत्रसे प्रत्यक्ष योग्य हैं वे सब त्वगिन्द्रियसे भी ग्राह्य हो सकते हैं । इसलिए पृथक्त्व और सङ्ख्या आदि जो नेत्रसे ग्राह्य गुण कहे गए हैं और जो क्रिया, जाति प्रत्यक्ष योग्यमें रहनेवाले हैं वे त्वगिन्द्रियसे ग्राह्य हैं । यहाँ त्वक् इन्द्रियसे जन्य द्रव्यके प्रत्यक्षमें भी रूप कारण है । इसलिए बहिरिन्द्रियसे जन्य द्रव्यके प्रत्यक्षमें रूप ही कारण मानना चाहिए । तात्पर्य यह है कि त्वगिन्द्रियसे जन्य

नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपं न वा स्पर्शः कारणं प्रमाणाभावात् किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमन्वयव्यतिरेकात् । बहिरिन्द्रियजन्ये द्रव्यप्रत्यक्षमात्रे किं कारणमिति चेत् न किञ्चित्, आत्मावृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु । रूपस्य कारणत्वे लाघवमिति चेन्न वायोस्त्वगिन्द्रियेणाग्रहणप्रसङ्गात् । इष्टापत्तिरिति चेदुद्भूतस्पर्शः एव लाघवात्कारण-

---

वाच्यमिष्टापत्तेः । न च बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे स्पर्शस्यैव कारणताऽस्त्विति वाच्यम् प्रभायाश्चाक्षुषप्रत्यक्षानापत्तेरिति प्राचीनाः ।

नव्यास्तु प्रभां पश्यामीतिवत् वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्यापि सद्भावात् वायुप्रभयोः प्रत्यक्षं भवत्येवेति चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपस्य स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शस्य कारणताऽन्वयव्यतिरेकबलादास्थीयते । बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे किं कारणमिति चेत् ? आत्मावृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्वमेव कारणमिति गृहाण । न च वायोः स्पार्शनप्रत्यक्षाङ्गीकारे तद्गतसङ्ख्याया अपि प्रत्यक्षं स्यादिति वाच्यम्, प्रभागतद्वित्वैकत्वयोरिव वायुगतद्वित्वैकत्वयोरपि प्रत्यक्षस्येष्टत्वात् क्वचित्सजातीयसंवलनरूपदोषान्न सङ्ख्यादीनां ग्रहणमित्याहुः ।

द्रव्य प्रत्यक्षमें स्पर्शको, और चक्षुरिन्द्रियसे जन्य द्रव्यके प्रत्यक्षमें रूपको कारण माननेसे गौरव होगा । अतः लाघव होनेके कारण 'बहिरिन्द्रिय जन्य द्रव्य प्रत्यक्षके प्रति रूपको कारण मानते हैं ।' यदि ऐसे लक्षणसे वायुका त्वगिन्द्रियसे प्रत्यक्ष नहीं बनता, तो ठीक है, मत बने, किन्तु अनुमानसे वायु सिद्ध होगा । बहिरिन्द्रिय जन्य द्रव्यके प्रत्यक्षमें स्पर्शको कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रभाका चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो सकेगा । क्योंकि प्रभाका स्पर्शसे पता नहीं चलता । यह प्राचीनोंका मत है ।

नवीन नैयायिकोंका कहना है कि बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यके प्रत्यक्षमात्रमें न रूप कारण है और न तो स्पर्श ही कारण है क्योंकि कोई प्रमाण ही नहीं है । किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्षमें रूप और स्पार्शन प्रत्यक्षमें स्पर्शको अन्वयव्यतिरेकके द्वारा कारण मानते हैं । यदि आप पूछते हैं कि बहिरिन्द्रिय जन्य द्रव्य प्रत्यक्षमात्रमें क्या कारण है तो हम (नव्य) कहेंगे कि कुछ नहीं । अथवा आत्मामें न रहनेवाले शब्द भिन्न विशेष गुणवाला होना ही बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्षमात्रमें कारण है यह ही कहेंगे । यदि इसीप्रकार प्रत्यक्षमात्रमें लाघवात् रूप ही कारण माना जाय, यह प्राचीनका कहना ठीक नहीं । क्योंकि वायुका त्वगिन्द्रियसे ग्रहण नहीं हो सकेगा । यदि इष्टापत्ति कहें तो लाघव होनेसे उद्भूत स्पर्शको ही कारण क्यों नहीं मान लिया जाता । यदि प्राचीन कहें कि प्रभाका प्रत्यक्ष नहीं होगा । तो इष्टापत्ति क्यों न मान ली जाय । इसलिए जैसे 'प्रभाको देख रहा हूँ', वैसे 'वायुका स्पर्श कर रहा हूँ'

मस्तु। प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे त्विष्टापत्तिरेव किं नेष्यते। तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवत् वायुं स्पृशामीति प्रत्यक्षस्य सम्भवाद्वायोरपि प्रत्यक्षं सम्भवत्येव। बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपस्य न वा स्पर्शस्य हेतुत्वम्। वायुप्रभयोरेकत्वं गृह्यत एव, क्वचिद्द्वित्वादिकमपि, क्वचित्सङ्ख्यापरिमाणाद्यग्रहो दोषादित्याहुः ॥ ५६ ॥

त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम्।

त्वच इति। त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानसामान्ये कारणमित्यर्थः। किं तत्र प्रमाणं, सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननमिति।

ननु सुषुप्तिकाले किं ज्ञानं भविष्यति अनुभवरूपं स्मरणरूपं वा। नाद्यः। अनुभवसामग्र्यभावात्। तथाहि प्रत्यक्षे चक्षुरादिना मनः-संयोगस्य हेतुत्वात्तदभावादेव न चाक्षुषादिप्रत्यक्षम्। ज्ञानादेरभावादेव न मानसं प्रत्यक्षम्। ज्ञानाद्यभावे चात्मनोऽपि न प्रत्यक्षमिति।

यह प्रत्यक्ष हो सकने से वायुका प्रत्यक्ष भी हो ही सकता है। बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य प्रत्यक्ष मात्रके प्रति रूप और द्रव्यको हेतुता नहीं है। क्योंकि बायु और प्रभाके प्रत्यक्ष होनेमें प्रमाण यह है कि वायु और प्रभामें रहनेवाली कहीं एकत्व संख्या और कहीं द्वित्व संख्याका ग्रहण होता है और कहीं संख्या परिमाण आदिका ग्रहण नहीं होता है। जहाँ संख्याका ग्रहण नहीं होता वहाँ सजातीयमें मिल जाना रूप दोष रहनेसे संख्याका ग्रहण नहीं होता ॥ ५६ ॥

मनके साथ इन्द्रियका संयोग सामान्य रूपसे ज्ञानका कारण है। त्वगिन्द्रिय और मनका संयोग ज्ञानसामान्यमें कारण है। उसमें प्रमाण क्या! इसका उत्तर है कि सुषुप्ति कालमें त्वचाको छोड़कर पुरीतत (निद्रा नाडी) में वर्तमान मनके द्वारा ज्ञानका उत्पन्न न होना ही प्रमाण है। किन्तु त्वक् और मनका संयोग ज्ञानमात्रमें सामान्य कारण है।

प्रश्न यह है कि सुषुप्ति कालमें कौन ज्ञान होगा अनुभवरूप या स्मरणरूप। अनुभवरूप नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अनुभवकी सामग्री ही नहीं है। जैसे—प्रत्यक्षमें नेत्र आदि इन्द्रियोंके साथ मनका संयोग कारण है। सुषुप्तिकालमें चक्षु और मनका संयोग न होनेसे चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। सुषुप्ति कालमें जीवात्मामें ज्ञान आदि गुण नहीं रहते। अतः उनका मानस प्रत्यक्ष भी नहीं होता और ज्ञान आदिका अभाव होनेके कारण आत्माका भी प्रत्यक्ष न होगा। इसी प्रकार व्याप्तिज्ञान न होनेसे ही

एवं व्याप्तिज्ञानाभावादेव नानुमितिः। सादृश्यज्ञानाभावान्नोपमितिः। पदज्ञानाभावान्न शाब्दबोधः। इत्यनुभवसामग्र्यभावान्नानुभवः। उद्बोधकाभावाच्च न स्मरणम्। नैवम्। सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नेच्छादिव्यक्ते-स्तत्सम्बन्धेनात्मनश्च प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। तदतीन्द्रियत्वे मानाभावात् सुषुप्तिप्राक्काले निर्विकल्पकमेव नियमेन जायत इत्यत्रापि प्रमाणाभावात्।

अथ ज्ञानमात्रे त्वङ्मनःसंयोगस्य यदि कारणत्वं तदा रासन-चाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले त्वाचप्रत्यक्षं स्यात्। विषयत्वक्संयोगस्य त्वङ्मनःसंयोगस्य च सत्त्वात्। परस्परप्रतिबन्धादेकमपि वा न स्यादिति।

अत्र केचित्-पूर्वोक्तयुक्त्या त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानहेतुत्वे सिद्धे चाक्षुषादिसामग्र्याः स्पार्शनादिप्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधात्कल्प्यत इति।

स्पर्शनादिप्रतिबन्धकत्वमिति। ननु स्पार्शनसामग्र्या एव चाक्षुषादि प्रतिबन्धकत्वं कुतो न कल्प्यत इति चेन्न तथा सति सर्वत्र स्पार्शनसामग्र्याः सत्त्वेन चाक्षुषप्रत्यक्ष-

---

अनुमिति भी नहीं होगी। सादृश्य ज्ञान न होनेसे उपमिति और पदज्ञान न होनेसे शाब्दबोध भी नहीं होगा। इस प्रकार अनुभव सामग्रीके अभावमें अनुभव भी नहीं होगा। और उद्बोधकके न रहनेसे स्मरणभी नहीं होगा। किन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि सुषुप्ति होनेसे पहले समयमें उत्पन्न जो इच्छा आदि व्यक्ति (आत्माके विशेषगुण) आदिका प्रत्यक्ष होना और उनके (इच्छाके) सम्बन्धसे आत्माका भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। क्योंकि सुषुप्तिके पूर्व उत्पन्न ज्ञानके अतीन्द्रिय होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि यह कहा जाय कि सुषुप्तिके प्राक् कालमें नियमतः निर्विकल्पक ज्ञान होता है तो इस कथनमें कोई प्रमाण नहीं है।

अब यदि ज्ञानमात्रके प्रति त्वक् और मनके संयोगको कारण मानेगें तब रसनेन्द्रिय और नेत्र इन्द्रियसे प्रत्यक्ष वेलामें त्वाच प्रत्यक्ष होने लगेगा क्योंकि विषयका और त्वक्का मनःसंयोग बना हुआ है। अथवा एक दूसरेकी सामग्रीका एक दूसरा प्रतिबन्धक बन जायगा। जिससे कोई भी प्रत्यक्ष नहीं होगा।

इसके उत्तरमें कुछ लोगोंका कहना है कि पहले कही गई युक्तियोंसे (अर्थात सुषुप्तिमें ज्ञान अभाव माननेसे) त्वक और मनके-संयोग को ज्ञानका हेतु सिद्ध हो जानेके कारण

अन्ये तु सुषुप्त्यनुरोधाच्चर्ममनःसंयोगस्य ज्ञानहेतुत्वं कल्प्यते चाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले त्वङ्मनःसंयोगाभावान्न स्पार्शनप्रत्यक्षमिति वदन्ति ।

मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृति ॥ ५७ ॥

मनोग्राह्यमिति । मनोजन्यप्रत्यक्षविषय इत्यर्थः । मतिर्ज्ञानम् । कृतिः प्रयत्नः । एवं सुखत्वदुःखत्वादिकमपि मनोग्राह्यम् । एवमात्मापि मनोग्राह्यः किन्तु मनोमात्रस्य गोचर इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वादत्र नोक्तः ॥ ५७ ॥

ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते ।

महत्त्वं षड्विधे हेतुरिन्द्रियं करणं मतम् ॥ ५८ ॥

चक्षुः संयोगाद्यनन्तरं 'घट' इत्याकारकं घटत्वादिविशिष्टज्ञानं न

स्योच्छेदः स्यादित्याशयात् मनोजन्येति । मनोमात्रजन्येत्यर्थः । अन्यथा मनोजन्य प्रत्यक्षस्य रूपादावपि सत्वादव्यावर्तकमिदं स्यात् ।

अनुभवके अनुसार चाक्षुष आदि प्रत्यक्षकी सामग्रीको स्पार्शन •प्रत्यक्षका विरोधी मान किया जाता है ।

दूसरे लोगोंका मत है कि सुषुप्तिके कारण (सुषुप्तिमें ज्ञान न होनेके कारण) चर्म (चाम) और मनके संयोगको ज्ञानका हेतु मानना चाहिए। चाक्षुषप्रत्यक्ष कालमें त्वक् और मनका संयोग नहीं होता । इसलिए स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होता है ।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, यत्न (कृति) और (अपने आत्मा) का मानस प्रत्यक्ष होता है ॥ ५७ ॥

'मनोग्राह्य' का अर्थ है कि मनसे जन्य प्रत्यक्षका विषय । मति = ज्ञान । कृति = प्रयत्न । इसी प्रकार सुखत्व, दुःखत्व, इच्छात्व, द्वेषत्व, ज्ञानत्व, प्रयत्नत्व भी मनसे ग्राह्य हैं । इसी प्रकार आत्माभी मनसे ग्राह्य है। पीछे (का० ५०) में 'मनोमात्रस्य गोचरः' अर्थात् आत्मा केवल मनसे प्रत्यक्ष होता है यह कहा जा चुका है। अतः मनसे गृहीत होनेवाले सुखादिकोंमें उसका नाम नहीं किया गया ॥ ५७ ॥

जो ज्ञान निर्विकल्पक है वह अतीन्द्रिय माना गया है। महत्त्व (महत् परिमाण) छः इन्द्रियोंसे होनेवाले छः प्रकारके प्रत्यक्षमें कारण है। और इन्द्रियभी छः प्रकारके प्रत्यक्षमें कारण हैं ॥ ५८ ॥

घटसे चक्षुः संयोगके बाद 'घट' इस प्रकारका 'घटत्व' आदि विशेषणोंसे युक्त ज्ञान नहीं

संभवति, पूर्वं विशेषणस्य घटत्वादेर्ज्ञानाभावात्। विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात्। तथा च प्रथमतो घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यानवगाह्येव ज्ञानं जायते। तदेव निर्विकल्पकम्। तच्च न प्रत्यक्षम्। तथाहि वैशिष्ट्यानवगाहिज्ञानस्य प्रत्यक्षं न भवति 'घटमहं जानामी'ति प्रत्ययात्। तत्रात्मनि ज्ञानं प्रकारीभूय भासते। ज्ञाने घटस्तत्र घटत्वम्। यः प्रकारः स एव विशेषणमित्युच्यते। विशेषणे यद्विशेषणं तद्विशेषणतावच्छेदकमित्युच्यते। विशेषणतावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं विशिष्ट-

---

वैशिष्ट्यानवगाह्येवेति। वैशिष्ट्यं संसर्गः। सांसर्गिकविषयतानवगाह्येवेति यावत्।

घटमहं जानामीति। घटविषयज्ञानवानहमिति बोधः।

इदमत्र तत्त्वम् निर्विकल्पकं ज्ञानं हि घटघटत्वे इत्याकारकम्।

ननु विषयता प्रकारताख्या विशेष्यताख्या संसर्गताख्या चेति त्रिविधा तत्र निर्विकल्पके त्रिविधविषयताशून्यत्वसत्त्वेन निर्विषयत्वमेव स्यादिति चेन्न तुरीयविषयताया एव तत्राभ्युपगमेनादोषादिति। निर्विकल्पकत्वं च प्रकारताशून्यत्वे सति ज्ञानत्वं, संसर्गताशून्यत्वे सति ज्ञानत्वं, विशेष्यताशून्यत्वे सति ज्ञानत्वं वा।

न च निर्विकल्पकानुव्यवसायोऽस्तु तथा च निर्विकल्पज्ञानस्य नातीन्द्रियत्वमिति वाच्यम्। रक्तः पटो, घटो द्रव्यम्, इति समूहालम्बनानन्तरं रक्तघटज्ञानवानहमित्यनुव्यवसायवारणाय विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिविषयताशून्यज्ञानस्य अनुव्य-

---

हो सकता। क्योंकि उससे पहले विशेषणरूप घटत्व आदिका ज्ञान नहीं था। विशिष्ट बुद्धिमें विशेषण ज्ञान कारण होता है। इसलिए पहले घट और घटत्वका विशेष्यविशेषणको विषय (ग्रहण) न करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है। अर्थात् सांसर्गिक विषयताको ग्रहण न करनेवाला ज्ञान उत्पन्न होता है। उसे ही निर्विकल्पक कहते हैं। और वह ज्ञान प्रत्यक्षभी नहीं होता। जैसे जो ज्ञान विशेषण विशेष्यभावको ग्रहण नहीं करता उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि 'घटको मैं जानता हूँ' इस प्रकारके अनुव्यवसाय को ज्ञानमें प्रतीति होती है। इस प्रतीतिमें आत्मामें 'ज्ञान' प्रकार (विशेषण) होकर प्रतीत होता है। और ज्ञानमें घट, घटमें घटत्व प्रकार (विशेषण) होकर प्रतीत होता है। जो प्रकार है उसे ही विशेषण कहते हैं। विशेषणमें जो विशेषण होता है वह विशेषणतावच्छेदक' कहा जाता है। जैसे ज्ञानमें विशेषण घट और घटमें घटत्व, यही घटत्व विशेषणतावच्छेदक है। विशेषणतावच्छेदकको विशेषण माननेवाला जो ज्ञान है वह विशिष्ट ज्ञानमें कारण है।

वैशिष्ट्यज्ञाने कारणम्। निर्विकल्पके च घटत्वादिकं न प्रकारस्तेन घटत्वादिविशिष्टघटादिवैशिष्ट्यभानं ज्ञाने न सम्भवति। घटत्वाद्यप्रकारकं च घटादिविशिष्टज्ञानं न सम्भवति। जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थज्ञानस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारकत्वनियमात्।

महत्त्वमिति। द्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वं समवायसम्बन्धेन कारणम्।

वसायानङ्गीकारेण निर्विकल्पकज्ञानानुव्यवसायाभावेनादोषात्। न चैवमपि 'घटघटत्वे' इति निर्विकल्पकानन्तरं घटत्वविशिष्टघटविषयकज्ञानवानहमित्यनुव्यवसायो मास्तु घटत्ववैशिष्ट्यस्य घटे निर्विकल्पकेनाविषयीकरणात् किन्तु घटत्वज्ञानवानहमित्यनुव्यवसायोऽस्तु जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तस्य यत्किञ्चिद्धर्मप्रकारकत्वनियमात्, घटत्वस्य स्वरूपतो विषयितासम्बन्धेन ज्ञाने प्रकारकत्वसम्भवादिति वाच्यम्। जातेः समवायेनैव स्वरूपतः प्रकारत्वम् न तु विषयित्वादिनापीत्यदोषात्। अन्यथा कालो घटः, ज्ञानं घट इति प्रतीतिः प्रमा स्यात् कालिकेन काले विषयितया च ज्ञाने स्वरूपतो घटत्वस्य प्रकारत्वात्।

महत्त्वं षड्विध इति। ननु श्रावणे महत्त्वस्य हेतुत्वे प्रयोजनाभाव इति चेन्न—द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति महत्त्वं कारणमित्येवं कारणतास्वीकारे लाघवस्यैव प्रयोजनत्वात्। अन्यथा श्रावणान्यद्रव्यसमवेतप्रत्यक्षत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वाङ्गीकारे गौरवं स्यादिति तत्त्वम्।

निर्विकल्पक ज्ञानमें घटत्व आदि प्रकार (विशेषण) नहीं है। इसलिए घटत्व आदिसे विशिष्ट घट आदिका वैशिष्ट्यभान ज्ञानमें सम्भव नहीं। क्योंकि घटत्वको विशेषण न मानने वाला घट आदिसे विशिष्ट ज्ञान हो ही नहीं सकता। कारण यह है कि जाति और अखण्डोपाधिसे अतिरिक्त पदार्थज्ञान किसी धर्मको बिना विशेषण बनाए रह ही नहीं सकता।

'महत्त्वं' इस अंशकी व्याख्या करते हैं—कि द्रव्यके प्रत्यक्षमें महत्त्व समवाय सम्बन्धसे कारण है। (यद्यपि श्रावण प्रत्यक्षमें महत्त्वको हेतु मानना व्यर्थ है तथापि द्रव्यमें समवेत प्रत्यक्षके प्रति महत्त्वकारण है इस कारणताको माननेमें लाघव ही प्रयोजक है। अन्यथा श्रावणान्यद्रव्य समवेत प्रत्यक्षत्वको कार्यतावच्छेदक माननेमें गौरव होगा।) द्रव्यमें समवेत गुण, कर्म और सामान्यके प्रत्यक्षके प्रति स्वाश्रय समवायसम्बन्धसे महत्त्व कारण है। जैसे—स्व = महत्त्व, उसका आश्रय द्रव्य उसका समवाय रूप आदिमें है। द्रव्यसमवेतमें समवेत गुणत्व, कर्मत्व और सामान्यत्वके प्रत्यक्षके प्रति स्वाश्रय समवेत समवाय सम्बन्धसे महत्त्व कारण है। जैसे—स्व=महत्त्व उसका आश्रय द्रव्य, उसमें समवेत रूप उसका समवाय रूपत्वमें है।

द्रव्यसमवेतानां गुणकर्मसामान्यानां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन कारणम्। द्रव्यसमवेतसमवेतानां गुणत्वकर्मत्वादीनां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेन कारणमिति।

इन्द्रियमिति। अत्रापि षड्विध इत्यनुषज्यते। इन्द्रियत्वं तु न जातिः पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यप्रसङ्गात्। किन्तु शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकरणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्। आत्मादिवारणाय सत्यन्तम्। उद्भूतविशेषगुणस्य शब्दस्य श्रोत्रे सत्त्वाच्छब्देतरेति। विशेषगुणस्य रूपादेश्चक्षुरादावपि

स्वाश्रयसमवायेति। स्वं महत्त्वं तदाश्रयो द्रव्यं तत्समवायो रूपादौ कारणतावच्छेदकसम्बन्धश्च विषयता। स्वाश्रयसमवेतेति। स्वं महत्त्वं तदाश्रयो द्रव्यं तत्समवेतं रूपं तत्समवायो रूपत्वे इति।

सांकर्यादिति। पृथिवीत्वाभाववति जलीये रसनेन्द्रिये इन्द्रियत्वम् इन्द्रियत्वाभाववति घटादौ पृथिवीत्वं घ्राणेन्द्रिये पृथिवीत्वेन्द्रियत्वयोः समावेशेन साङ्कर्यमिति भावः।

आत्मादिवारणायेति। आत्मादौ योऽतिव्याप्तिरूपो दोषस्तद्वारणायेत्यर्थः। सत्यन्तदाने च शब्दादितरे ये विशेषगुणा ज्ञानादयस्तदाश्रयत्वस्यैवात्मनि सत्त्वान्नातिव्याप्तिरिति भावः। ननु आत्मभिन्नत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वस्यैव लक्षणमस्तु इति चेन्न चर्ममनःसंयोगस्य मिश्रादिमते ज्ञानकारणत्वात्तत्रातिव्याप्तिवारणाय मूलोक्तसत्यन्तस्यावश्यकत्वात्।

'इन्द्रियं' पदकी व्याख्या करते हैं कि यह भी छ प्रकारकी हैं यह कहना चाहिए। अर्थात् इन्द्रियाँ छ प्रकार की हैं। इन्द्रियत्व जाति नहीं है। क्योंकि पृथिवीत्वसे साङ्कर्य हो जायगा। जैसे—जहाँ पृथ्वीत्व नहीं है उस जलीय रसनारूपी इन्द्रियमें इन्द्रियत्व है और जहाँ इन्द्रियत्व नहीं है उस घट आदिमें पृथिवीत्व है इस प्रकारसे घ्राणरूपी इन्द्रियमें पृथिवीत्व और इन्द्रियत्व दोनोंके रहनेसे साङ्कर्य दोष होता है। किन्तु शब्दसे अतिरिक्त उद्भूत-विशेष-गुणका आश्रय न हो और ज्ञानके कारण मनःसंयोगका आश्रय हो उसे इन्द्रिय कहते हैं। यह इन्द्रियका लक्षण है। जैसे श्रोत्र इन्द्रिय है वह शब्दसे अन्य किसी उद्भूत विशेष गुणका आश्रय नहीं है। ज्ञानके कारण मनःसंयोगका आश्रय भी है। अतः श्रोत्र इन्द्रिय है। क्योंकि जितने ज्ञान होते हैं उनमें मन और इन्द्रियका संयोग रहता है। आत्मामें अतिव्याप्ति वारणके लिये 'शब्दसे अन्य उद्भूत गुणका आश्रय न हो', यह कहा गया। अन्यथा ज्ञानके कारण और मनःसंयोगके आश्रय आत्मामें इन्द्रियके लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी। उद्भूत विशेष गुण शब्द श्रोत्र रूपी इन्द्रियमें रहता है। अतः शब्देतर यह विशेषण दिया। रूप नामका विशेषगुण नेत्रमें (अनुद्भूत) रहता है। अतः

सत्त्वादुत्भूतेति। उद्भूतत्वं न जातिः शुक्लत्वादिना साङ्कर्यात्। न च शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवोद्भूतत्वमिति वाच्यम्, उद्भूतरूपत्वादिना चाक्षुषादौ जनकतानुपपत्तेः। किन्तु शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवानुद्भूतत्वं तदभावकूटश्चोद्भूतत्वम् तच्च संयोगादावप्यस्ति। तथा च शब्देतरोद्भूतगुणः संयोगादिश्चक्षुरादेरप्यस्त्यतो विशेषेति। कालादिवारणाय

शुक्लत्वादिना साङ्कर्यादिति। उद्भूतत्वाभाववति चक्षुरिन्द्रियरूपे शुक्लत्वं, शुक्लत्वाभाववति गन्धादावुद्भूतत्वं अग्न्यादिरूपे उद्भूतत्वशुक्लत्वयोः समावेशात्साङ्कर्यमिति भावः।

उद्भूतरूपत्वादिनेति। चाक्षुषं प्रति उद्भूतरूपत्वेन कारणता स्वीक्रियते सेदानीं न सिद्ध्यति, शुक्लत्वादिव्याप्योद्भूतत्वविशिष्टरूपत्वस्य पीतत्वव्याप्योद्भूतत्वविशिष्टरूपत्वस्य चान्यतया सप्तविधरूपसाधारणोद्भूतत्वस्याभावेनैकरूपेण कारणत्वासम्भवादिति भावः।

शुक्लत्वादिव्याप्यं नानेति। यथा पृथिवीत्वादिना घटत्वस्य साङ्कर्यमाशङ्क्य घटत्वं नाना तद्वच्छुक्लत्वादिव्याप्यमुद्भूतत्वमपि नानेत्यभिप्रायः। तथा हि पृथिवीत्वाभाववति तैजस (स्वर्ण) घटे घटत्वं घटत्वाभाववति मृत्पिण्डादौ पृथिवीत्वं मृद्घटे

विशेगगुण पदमें उद्भूत विशेषण लगाया। उद्भूतत्व जाति नहीं है, क्योंकि शुक्लत्वसे सांकर्य (संकारता) होती है। जैसे जहां उद्भूतत्व नहीं है उस चक्षुरूपी इन्द्रिय रूपमें शुक्लत्व और जहाँ शुक्लत्व नहीं है उस गन्धमें उद्भूतत्व है और अग्निके रूपमें उद्भूतत्व और शुक्लत्व दोनोंके रहनेके कारण उद्भूतत्व जाति नहीं है। यदि शुक्लत्वका व्याप्य उद्भूतत्वको अनेक मान लें तो भी ठीक नहीं। क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति उद्भूतरूपत्वेन कारणता स्वीकार करते हैं। वह नहीं बन सकेगी। कारण यह है कि यदि उद्भूतत्व अनेक मान लिया जाय तब 'शुक्लत्व आदिका व्याप्य उद्भूतत्वसे विशिष्ट रूपत्व और पीतत्वसे व्याप्य उद्भूतत्वसे विशिष्ट रूपत्व भी भिन्न भिन्न होंगे। जिससे सात प्रकारके रूपमें सामान्यरूपसे रहनेवाला उद्भूतत्व नहीं मिलेगा और एक रूपसे (उद्भूतत्वेन) कारणता नहीं बनेगी। किन्तु (१) शुक्लत्व आदिमें व्याप्य अनेक अनुद्भूतत्व है और उस

---

(१) जैसे पृथ्वीत्व और घटत्वसे साङ्कर्यकी शङ्का होनेपर घटत्व अनेक मान लिया जाता है वैसे शुक्लत्व व्याप्य उद्भूतत्व भी अनेक मान लेना चाहिए। यह इस पंक्ति का अभिप्राय है। जैसे—जहाँ पृथिवीत्व नहीं है उस सुवर्ण घटमें घटत्व है और जहाँ घटत्व नहीं है उस मिट्टीमें पृथिवीत्व है और मिट्टीके घटमें घटत्व पृथिवीत्व दोनोंके रहनेसे साङ्कर्य होता है। अतः पृथिवीमें रहने वाला घटत्व भिन्न और तेज (सुवर्ण) मे रहने वाला घटत्व भिन्न माना जाता है। तब घटत्व जाति सिद्ध होनेमें संकर दोष नहीं होता है।

विशेष्यदलम्। इन्द्रियावयवविषयसंयोगस्यापि प्राचां मते प्रत्यक्षजनकत्वादिन्द्रियावयववारणाय, नवीनमते कालादौ रूपाभावप्रत्यक्षे सन्निकर्षघटकतया कारणीभूतचक्षुःसंयोगाश्रयस्य कालादेश्च वारणाय मनः पदम्। ज्ञानकारणमित्यपि तद्वारणाय। करणमिति। असाधारणं कारणं करणम्। असाधारणत्वं व्यापारवत्त्वम्॥ ५८॥

विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः।
द्रव्यग्रहस्तु संयोगात्संयुक्तसमवायतः॥ ५९॥
द्रव्येषु समवेतानां तथा तत्समवायतः।
तत्रापि समवेतानां शब्दस्य समवायतः॥ ६९॥
तद्वृत्तीनां समवेतसमवायेन तु ग्रहः।

पृथिवीत्वघटत्वयोः समावेशात्सांकर्यं स्यादतः पृथिवीत्वव्याप्यं घटत्वमन्यत् तेजस्त्व व्याप्यं घटत्वमन्यदिति।

अनुद्भूतत्वका अभाव कूट (समूह) ही उद्भूतत्व है। जो संयोग आदिमें भी है। और इस प्रकार शब्दसे अन्य उद्भूत गुण संयोग आदि चक्षु आदि इन्द्रियोंमें है। अतः गुणमें 'विशेष' विशेषण लगाया। काल आदिमें अतिव्याप्ति वारणके लिए 'ज्ञानकारण मनःसंयोगाश्रयत्वं' यह विशेष्यदल दिया गया है। इन्द्रियावयव और विषयसंयोग भी प्राचीनोंके मतमें प्रत्यक्षका जनक होता है अतः इन्द्रियावयवमें लक्षण वारण करनेके लिए मन पद दिया। नवीनोंके मतमें काल आदिमें रूपाभावका प्रत्यक्ष नेत्रसंयुक्त विशेषणता सन्निकर्ष (संबन्ध) से होता है। इस सम्बन्धसे कालके साथ चक्षुःसंयोग भी कालमें रूपाभावके प्रत्यक्षका कारण होगा। इसी प्रकार कालमें रूपाभाव प्रत्यक्षका कारण जो काल उसके साथ जो चक्षुःसंयोग उसका आश्रय काल है और शब्दसे अन्य उद्भूत विशेषगुणका अनाश्रय भी है। अतः कालमें अतिव्याप्ति रोकनेके लिए 'मन' पद दिया। ज्ञानकारण यह पद भी कालमें अतिव्याप्ति वारनेके लिए ही है। 'करण' पदका अर्थ। असाधारण (विशेष) कारण को करण कहते हैं। असाधारणत्व है व्यापारवत्त्व। (व्यापार वाला होना)॥ ५८॥

विषय (घट आदि) और इन्द्रियका सम्बन्ध व्यापार (सन्निकर्ष) कहलाता है। वह छः प्रकार का होता है। द्रव्यका ग्रहण संयोग सम्बन्धसे होता है, द्रव्यमें समवेत (रूपका) संयुक्त समवाय और रूपमें समवेत (रूपत्व) का संयुक्तसमवाय समवाय सम्बन्धसे होता है। शब्दका प्रत्यक्ष समवाय सम्बन्धसे होता है और उसमें रहने वाले शब्दत्वका समवेत

प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ॥ ६१ ॥
विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत् ।
यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते ॥ ६२ ॥

विषयेन्द्रियेति ! व्यापारः सन्निकर्षः । षड्विधं सन्निकर्षमुदाहरणद्वारा प्रदर्शयति । द्रव्यग्रह इति । द्रव्यप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगजन्यम् । द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयुक्तसमवायजन्यम् । एवमग्रेऽपि ।

वस्तुतस्तु द्रव्यचाक्षुषं प्रति चक्षुःसयोगः कारणम् । द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवायः कारणम् । द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् । एवमन्यत्रापि विशिष्यैव कार्यकारणभावः ।

ननु तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वरूपस्य व्यापारत्वस्य भोग्रशब्दसम्बन्धे समवायेऽसम्भवः समवायस्याजन्यत्वादित्यत आह—व्यापारः सन्निकर्ष इति ।

ननु द्रव्यप्रत्यक्षे इन्द्रियसम्बन्धत्वेन हेतुत्वे त्वक्प्रभासंयोगाच्चाक्षुषापत्तिः, अन्धकारे घटचक्षुस्संयोगात्त्वाचप्रत्यक्षापत्तिश्चेत्यरुचेराह—वस्तुतस्त्विति ।

समवाय सम्बन्धसे ग्रहण होता है। समवायका प्रत्यक्ष (ग्रहण) विशेषणता सम्बन्धसे होता है। 'यदि होता तो उपलब्ध होता' इस प्रकार जहां प्राप्ति हो वहां अभाव नामका पदार्थ है जो विशेषणता सम्बन्धसे गृहीत होता है।

व्यापारका अर्थ सन्निकर्ष है। छ प्रकारके सन्निकर्षोंको उदाहरण देकर दिखाते हैं। द्रव्यका प्रत्यक्ष इन्द्रियके संयोगसे जन्य है। द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवालोंका प्रत्यक्ष इन्द्रियसे संयुक्त समवायसे जन्य है। इसी प्रकार आगे समझ लेना चाहिए। किन्तु द्रव्य प्रत्यक्षमें इन्द्रियसंयोगको हेतु माननेमें त्वक् और प्रभाके संयोगका चाक्षुष होने लगेगा। और अन्धकारमें घट और नेत्रके संयोगसे होने लगेगा। अतः उपायान्तर कहते हैं—

वस्तुतस्तु—

वस्तुतः बात यह है कि द्रव्यके चाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति 'चक्षुःसंयोग' सन्निकर्ष कारण है। द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे रहने वालेका चाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति 'चक्षुःसंयुक्तसमवाय' कारण है। द्रव्यमें समवायसम्बन्धसे रहनेवालेमें जो समवाय सम्बन्धसे रहता हो उसका 'चक्षुःसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष कारण है। इसी प्रकार अन्यत्र भी त्वाचप्रत्यक्षमें भी विशेष रूपसे अलग अलग कार्यकारण भाव मानना चाहिए। यह कार्यकारणभाव साक्षात् नहीं किन्तु परम्परा सम्बन्धसे है।

परन्तु पृथिवीपरमाणुनीले नीलत्वं पृथ्वीपरमाणौ पृथिवीत्वं च चक्षुषा कथं न गृह्यते तत्र परम्परयोद्भूतरूपसम्बन्धस्य महत्त्वसम्बन्धस्य च सत्त्वात्। तथाहि—नीले नीलत्वं जातिरेकैव घटनीले परमाणुनीले च वर्तते। तथा च महत्त्वसम्बन्धो घटनीलमादाय वर्तते। उद्भूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादायैव वर्तते। एवं पृथिवीत्वेऽपि घटादिकमादाय महत्त्वसम्बन्धो बोध्यः।

एवं वायौ तदीयस्पर्शादौ च सत्तायाश्चाक्षुषप्रत्यक्षं स्यात्।

तस्मादुद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नचक्षुःसंयुक्तसमवायस्य

परम्परयेति। स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वसम्बन्धेनेत्यर्थः। स्वमुद्भूतरूपं तदाश्रयो घटः तत्समवेतं नीलरूपं तत्समवायो नीलत्वे। एवं स्वमुद्भूतरूपं तदाश्रयः कपालं तत्समवेतो घटः तत्समवायः पृथिवीत्वे। एवं स्वं महत्त्वं तदाश्रयो घटस्तत्समवेतं नीलरूपं तत्समवायो नीलत्वे।

उद्भूतरूपावच्छिन्नेति। इदं महत्त्वावच्छिन्नेति च चक्षुःसंयोगे विशेषणम्। अर्थात् यत्र चक्षुःसंयोगः, समवायेन वर्तते तत्रैव महत्त्वोद्भूतरूपयोरपि समवायेन स्थितिरपेक्ष्यत इति। तथा च परमाणौ चक्षुःसंयोगस्तत्रोद्भूतरूपसत्त्वेऽपि महत्त्वाभावात् वायौ महत्त्वसत्त्वेऽपि उद्भूतरूपाभावाच्च परमाण्वादौ पृथिवीत्वादिकं न वा

परन्तु इसी प्रकार पृथ्वीके परमाणुमें रहने वाले नील वर्णमें नीलत्व और पृथ्वी परमाणुमें पृथ्वीत्व जातिका चक्षुसे ग्रहण क्यों नहीं होता। क्योंकि यहां भी स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वसम्बन्धसे उद्भूतका सम्बन्ध और महत्त्वका सम्बन्ध वर्तमान है। समन्वय = स्व = उद्भूतरूप, उसका आश्रय = घट, उसमें समवेत = नीलरूप उसका समवाय = नीलत्वमें है। इसी प्रकार स्व = उद्भूतरूप उसका आश्रय = कपाल, उसमें समवेत = घट उसका समवाय = पृथ्वीत्वमें है। इसी प्रकार स्व = महत्त्व, उसका आश्रय घट, उसमें समवेत नीलरूप उसका समवाय नीलत्वमें है। तात्पर्य यह है कि जैसे नीलमें एक ही नीलत्व जाति घटके नीलमें और परमाणुके नीलमें है और महत्त्व जातिका सम्बन्ध घटनीलको लेकर है। उद्भूतरूपका सम्बन्ध तो घटनील और परमाणुनील दोनोंको लेकर ही है। इसी प्रकार पृथ्वीत्वमें भी घट आदिको लेकर महत् परिमाणका सम्बन्ध समझना चाहिए। इसी प्रकार परम्परा सम्बन्धसे वायुमें और उसके स्पर्श आदिमें रहने वाली सत्ता जातिका भी चाक्षुषप्रत्यक्ष होने लगेगा।

इसलिए द्रव्य समवेत रूप आदिके प्रत्यक्षके प्रति उद्भूतरूपावच्छिन्न महत्त्वावच्छिन्न चक्षुःसंयुक्त समवाय सन्निकर्षको कारण मानते हैं। इसीप्रकार द्रव्यमें समवेत जो रूप आदि

द्रव्यसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे, तादृशचक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवायस्य द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे कारणत्वं वाच्यम्। इत्थं च परमाणुनीलादौ न नीलत्वादिग्रहः, परमाणौ चक्षुःसंयोगस्य महत्त्वावच्छिन्नत्वाभावात्, एवं वाय्वादौ न सत्तादिचाक्षुषं तत्र चक्षुःसंयोगस्य रूपावच्छिन्नत्वाभावात्।

एवं यत्र घटस्य मध्यावच्छेदेनालोकसंयोगः चक्षुःसंयोगस्तु बाह्यावच्छेदेन तत्र घटप्रत्यक्षाभावादालोकसंयोगावच्छिन्नत्वं चक्षुःसंयोगे विशेषणं देयम्।

एवं द्रव्यस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयोगः कारणम्। द्रव्यसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवायः, कारणम्। द्रव्यसमवेतसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुसमवेतसमवायः कारणम्।

अत्रापि महत्त्वावच्छिन्नत्वमुद्भूतस्पर्शावच्छिन्नत्वं च पूर्ववदेव बोध्यम्।

एवं गन्धप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवायः गन्धसमवेतस्य घ्राणजन्य-

---

वायौ सत्तायाश्चाक्षुषं प्रत्यक्षमिति। गन्धसमवेतस्येति। गन्धत्वादेरित्यर्थः। घ्राणेति।

उनमें समवेत रूपत्व आदिके प्रत्यक्षके प्रति उद्भूतरूपावच्छिन्न, महत्त्वावच्छिन्न चक्षुःसंयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्षको कारण मानना चाहिए। इस प्रकार परमाणुके नीलमें नीलत्व ग्रह नहीं होता। क्योंकि परमाणुमें चक्षुः=संयोग महत्त्वावच्छिन्न नहीं है। इसी प्रकार वायु आदि में भी सत्ता जातिका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि वहां पर भी चक्षुःसंयोग उद्भूतरूपावच्छिन्न नहीं है। अर्थात चक्षुःसंयुक्त वायु, रूपसे अवच्छिन्न (विशिष्ट=युक्त) नहीं है। अतः उसका चाक्षुष नहीं होता।

इसी प्रकार जहां घटके भीतरी भागमें आलोकका (प्रकाशका) संयोग है और घटके बाहरी भागसे चक्षुः संयोग है वहां घटके प्रत्यक्ष न होनेसे यह कहना पड़ेगा कि आलोक संयोगसे अवच्छिन्न (युक्त) चक्षुः संयोग घट प्रत्यक्षमें कारण है।

इसी प्रकार द्रव्यके स्पार्शन प्रत्यक्षमें त्वक् संयोग कारण है। द्रव्य समवेत स्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति त्वक् संयुक्त समवाय सन्निकर्ष कारण है। द्रव्यसमवेतसमवेत स्पार्शन प्रत्यक्षके प्रति त्वक् संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष कारण है। यहां भी उद्भूतरूपावच्छिन्न और महत्त्वावच्छिन्न रूपी विशेषण पहिलेके समान लगाना चाहिए।

इसी प्रकार गन्धके प्रत्यक्षके प्रति घ्राण संयुक्त समवाय और गन्धमें समवाय सम्बन्धसे

प्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

एवं रसप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवायः रससमवेतरासनप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

शब्दप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवायः कारणम्। शब्दसमवेतश्रावणप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवायः कारणम्।

अत्र सर्वं प्रत्यक्षं लौकिकं बोध्यम्। वक्ष्यमाणमलौकिकप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगादिकं विनापि भवति। एवमात्मनःप्रत्यक्षे मनःसंयोगः, आत्मसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवायः, आत्मसमवेतसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्। अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता हेतुः। वैशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्षः।

घ्राणसंयुक्तो घटादिस्तत्समवेतो गन्धस्तत्समवायो गन्धत्वे इति।

समवायो न प्रत्यक्ष इति। घटाकाशसंयोगस्य प्रत्यक्षवारणाय सम्बन्धप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुतेति तेषामभिप्रायः। नैयायिकास्तु संयोगप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुतेति स्वीकारेणोक्तदोषवारणसम्भवात् समवायस्य प्रत्यक्षत्वमेवाभ्युपगच्छन्ति।

रहनेवाले गन्धत्व आदिका घ्राणजन्य प्रत्यक्षके प्रति घ्राण-संयुक्त समवेत-समवाय कारण है।

इसी प्रकार रसके प्रत्यक्षके प्रति रसना-संयुक्त-समवाय और रसमें समवेत का रासन प्रत्यक्षके प्रति रसनासंयुक्तसमवेतसमवाय कारण है।

शब्दके प्रत्यक्षमें श्रोत्रदेशके आकाशमें शब्दका समवाय कारण है। शब्दमें समवेत शब्दत्व आदि जातिके प्रत्यक्षके प्रति श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवाय कारण है।

यहां सर्वत्र लौकिकप्रत्यक्ष कहा गया है। आगे हम जिसे बताने चल रहे हैं वह अलौकिक सन्निकर्ष (सम्बन्ध) है जो इन्द्रिय संयोग आदिके बिना भी होता है। इसी प्रकार आत्माके प्रत्यक्षमें मनःसंयोग, आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहनेवालेके (ज्ञान, सुख आदिके) मानस प्रत्यक्षके प्रति मनः संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष है। आत्मामें समवेत जो सुख उसमें समवेत सुखत्वके मानस प्रत्यक्षके प्रति मनःसंयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष कारण है अभाव और समवायके प्रत्यक्षके प्रति इन्द्रिय सम्बन्धविशेषणता कारण है। वैशेषिकोंके मतमें समवायका प्रत्यक्ष नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि वैशेषिक घटाकाशसंयोगका प्रत्यक्ष करनेके लिए "सम्बन्धके प्रत्यक्षमें समस्त आश्रयके प्रत्यक्षको कारण मानते हैं" एक तथा नित्य समवायसम्बन्धसे सम्बद्ध समस्त वस्तुओंका तीनों कालमें प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिए समवायको

अत्र यद्यपि विशेषणता -नानाविधा-तथाहि भूतलादौ घटाद्यभावः स्वसंयुक्तविशेषणतया गृह्यते, सङ्ख्यादौ रूपाद्यभावः स्वसंयुक्तसमवेतविशेषणतया, सङ्ख्यात्वादौ रूपाद्यभावः स्वसंयुक्तसमवेतसमवेत-विशेषणतया, शब्दाभावः केवलश्रोत्रावच्छिन्नविशेषणतया, कादौ खत्वाद्यभावः श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतविशेषणतया, एवं कत्वाद्यवच्छिन्ना-भावे गत्वाभावादिकं श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणविशेषणतया, एवं घटाभा-वादौ पटाभावः चक्षुःसंयुक्तविशेषणविशेषणतया, एवमन्यदप्यूह्यम् ।

स्वसंयुक्तविशेषणतयेति । विशेषणता च स्वरूपसम्बन्धविशेषः । स्वं चक्षुः तत्सं युक्तं भूतलं तद्विशेषणता घटाभावे घटाभाववद्भूतलमिति ज्ञाने घटाभावस्य विशेषणत्वात् ।

स्वसंयुक्तसमवेतविशेषणतयेति । स्वं चक्षुः तत्संयुक्तो घटः तत्समवेता सङ्ख्या तद् विशेषणता रूपाभावे । स्वसंयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतयेति । स्वं चक्षुः तत्संयुक्तो-

---

प्रत्यक्ष नहीं मानते । किन्तु नैयायिक संयोगके प्रत्यक्षमें समस्त आश्रयका प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं । उनका मत है कि जब घटमें रूपका प्रत्यक्ष होता है तब रूपसमवायका भी प्रत्यक्ष होना ही चाहिए । इसलिये ये समवाय का प्रत्यक्ष मानते हैं ।

यहां यद्यपि विशेषणता अनेक प्रकारकी होती है जैसे—भूतल आदिमें घट आदिका अभाव संयुक्तविशेषणता सन्निकर्षसे ग्रहण होता है । क्योंकि स्व=नेत्र, उससे संयुक्त= भूतल उसकी विशेषणता घटाभावमें 'घटाभाववद्भूतलम्' इस ज्ञानमें हैं । क्योंकि घटाभाव इस ज्ञानमें विशेषण हैं । विशेषणता एक प्रकारका स्वरूप सम्बन्ध है । संख्या आदिमें रूप आदिका अभाव स्वसंयुक्तसमवेतविशेषणता सन्निकर्षसे ग्रहण होता है । क्योंकि स्व=नेत्र, उससे संयुक्त=घट उसमें समवेत=संख्या, उसकी विशेषणता रूपाभावमें है । संख्यात्व आदिमें रूपाभावका प्रत्यक्ष स्वसंयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता सन्निकर्षसे होता है । क्योंकि स्व=नेत्र, उससे संयुक्त घट उसमें समवेत एकत्व आदि संख्या उसमें समवेत संख्यात्व उसकी विशेषणता रूपाभावमें है । शब्दका अभाव केवल श्रोत्रावच्छिन्न विशेषणता सन्निकर्षसे गृहीत होता है । क्योंकि शब्दाभाव श्रोत्रका विशेषण है (अर्थात शब्दाभावमें श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणता है ।) और 'क' वर्णमें 'खत्वाभाव' श्रोत्रावच्छिन्न समवेत विशेषणता सन्निकर्ष गृहीत होता है । क्योंकि श्रोत्रावच्छिन्न आकाशमें समवेत 'क' वर्णमें 'खत्वाभाव' विशेषण है । इसी प्रकार 'कत्व' आदिसे अवच्छिन्न अभावमें गत्वाभाव भी श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणविशेषणता सन्निकर्षसे गृहीत होता है । क्योंकि श्रोत्रावच्छिन्न आकाश का कत्वाभाव विशेषण है और उसका विशेषण गत्वाभाव है । इसी प्रकार घट आदिमें पटाभावका चक्षुःसंयुक्त विशेषणविशेषणता सन्निकर्षसे प्रत्यक्ष होता है । क्योंकि

तथापि विशेषणतात्वरूपेणैकैव सा गण्यते। अन्यथा षोढा सन्निकर्ष इति प्राचां प्रवादो व्याहन्येतेति।

यदि(१)स्यादुपलभ्येतेति। अत्राभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिः कारणम्। तथाहि। भूतलादौ घटादिज्ञाने जाते घटाभावादिकं न ज्ञायते। तेनाभावोपलम्भे प्रतियोग्युपलम्भाभावः कारणम्। तत्र योग्यताप्यपेक्षिता सा च प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जन(२) प्रसञ्जितप्रतियोगित्वरूपा।

क्तो घटस्तत्समवेता एकत्वादिसंख्या तत्समवेतं संख्यात्वादिकं तद्विशेषणता रूपाभावे।

योग्यानुपलब्धिरिति। योग्या चासौ अनुपलब्धिश्चेति विग्रहः।

चक्षुः संयुक्त जो भूतल आदि द्रव्य उसका विशेषण है घटाभाव और घटाभावका विशेषण है पटाभाव। इसीप्रकार अन्य सम्बन्धोंकी भी कल्पना करनी चाहिए। इस प्रकार यद्यपि विशेषणता सन्निकर्ष अनेक प्रकारका है तथापि वह विशेषणतात्वरूपसे एक ही गिना जाता है। यदि अनेक गिन लिया जाय तो सन्निकर्ष छ प्रकारका होता है यह प्राचीनोंका कथन अनुचित हो जाय। अतः एक ही माना जाता है।

(मीमांसक लोग अभावका प्रत्यक्ष नहीं मानते किन्तु चार प्रमाणोंसे अलग अनुपलब्धि नामका एक पांचवाँ प्रमाण मानते हैं और उसी प्रमाणसे अभावका ज्ञान करते हैं। किन्तु नैयायिक लोग तो अभावके प्रत्यक्षमें अनुपलब्धिको सहकारी मानते हैं। अभावका प्रत्यक्ष तो पूर्वोक्त विशेषणता सम्बन्धसे ही मानते हैं) यह बतानेके लिए यदि 'स्यादुपलभ्येत' अंशकी व्याख्या करते हैं। यहाँ अभावके प्रत्यक्षमें प्रत्यक्षयोग्य अनुपलब्धि कारण है। जैसे भूतल आदि स्थानोंमें घट आदिका ज्ञान हो जानेपर घटाभावका ज्ञान नहीं होता। इसलिए 'अभावकी उपलब्धियोंमें (ग्रहणमें) प्रतियोगीका (घट आदिका उपलम्भ (प्राप्ति = ग्रहण) न होना कारण है' उसमें योग्यता भी अपेक्षित होती है। क्योंकि जो प्रत्यक्ष योग्य हो उसकी उपलब्धि (प्रत्यक्ष) न होना अभावके प्रत्यक्षमें कारण है। और उस योग्यताका रूप है 'प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्व'। जैसे 'प्रतियोगी = घटकी सत्ताका प्रसञ्जन = आरोप करना प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनका अर्थ हुआ जैसे 'यदि यहां घट होता' उस आरोपसे प्रसञ्जित = आरोपित है प्रतियोगी जिसका ('तो दिखाई पड़ता' इस आरोपका विषय घटका उपलम्भ = घटका

(१.) मीमांसकाः अभावो न प्रत्यक्षमिति स्वीकृत्य अनुपलब्धिप्रमाणजन्यानुपलम्भात्मकप्रमितिविषय एवेति वदन्ति तन्मतं दूषयति-यदि स्यादिति।

(२) प्रतियोगिनः घटादेः सत्तायाः प्रसञ्जनं आरोपः इति प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनं 'यद्यत्र घटः स्याद्' इत्याकारकत्वेन प्रसञ्जितः आरोपितः प्रतियोगी 'तर्हि उपलभ्येत' इत्यारोपविषयो घटोपलम्भः (घटप्रत्यक्षं) तदेव प्रतियोगी यस्य तत्त्वमित्यर्थः।

तदर्थश्च प्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वप्रसक्त्या प्रसञ्जित उपलम्भरूपः प्रतियोगी यस्य सोऽभावप्रत्यक्षे हेतुः । तथाहि । यत्रालोकसंयोगादिकं वर्तते तत्र 'यद्यत्र घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येते'त्यापादयितुं शक्यते । तत्र घटाभावादिप्रत्यक्षं भवति । अन्धकारे तु नापादयितुं शक्यते । तेन घटाभावादेरन्धकारे न चाक्षुषप्रत्यक्षम्, स्पार्शनप्रत्यक्षं तु भवत्येव, आलोकसंयोगं विनापि स्पार्शनप्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात् । गुरुत्वादिकं यदयोग्यं तदभावस्तु न प्रत्यक्षस्तत्र गुरुत्वादिप्रत्यक्षस्यापादयितुमशक्यत्वात् । वायौ रूपाभावः । पाषाणे सौरभाभावः । गुडे तिक्ताभावः । श्रोत्रे शब्दाभावः । आत्मनि सुखाभावः । एवमादयस्तत्तदिन्द्रियैर्गृह्यन्ते तत्तत्प्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात् । संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिनो योग्यता । अन्योन्याभावप्रत्यक्षे त्वधिकरणयोग्य-

---

गुरुत्वादिकमिति । नन्विदमयुक्तं पिशाचत्वादिजातेरयोग्यत्वेऽपि तदभावस्य स्तम्भादौ प्रत्यक्षत्वाङ्गीकारादिति चेन्न । गुरुत्वादिकमित्यादिपदस्य तादात्म्येन प्रत्यक्षप्रतिबन्धकजातिभिन्नसामान्याभावपरतयाऽदोषात् । पिशाचत्वजातिः स्वप्रत्यक्षं प्रति तादात्म्येन न प्रतिबन्धिका पिशाचत्वस्य क्रियाजातिर्योग्यवृत्तिरित्यादिना अयोग्यवृत्तित्वेन अयोग्यत्वस्य पूर्वमुक्ततया तत्प्रत्यक्षस्यापादनासम्भवेन तस्य

प्रत्यक्ष वही है प्रतियोगी जिसका वह योग्यता है ।) इसका अर्थ यह है कि प्रतियोगी घट आदिकी सत्ताके आरोपसे जहाँ प्रतियोगीका उपलम्भ आरोपित हो वह योग्यता अभाव प्रत्यक्षमें कारण है । जैसे जहाँ आलोकसंयोग आदि हैं वहाँ 'यदि यहाँ घट होता तो उपलब्ध होता' यह कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ घटाभावका प्रत्यक्ष होता है । और जहाँ अन्धकार है वहाँ 'यदि यहाँ घट होता तो दिखाई पड़ता' इस प्रकार नहीं कह सकते । इसलिए अन्धकारमें घटाभावका चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता । स्पार्शन प्रत्यक्ष तो होता ही है । क्योंकि आलोक संयोगके (प्रकाशके) बिना भी स्पार्शन प्रत्यक्ष आ पड़ता है (होता है)। गुरुत्व आदिका जिनमें प्रत्यक्षकी योग्यता नहीं है उनका प्रत्यक्ष होता ही नहीं है । वहां गुरुत्वके प्रत्यक्षका आपड़ना (होना) असम्भव है । वायुमें रूपाभाव, पत्थरमें सौरभाभाव (गन्धाभाव) गुड़में तिक्ताभाव, श्रोत्रमें शब्दाभाव और आत्मामें सुखाभाव इत्यादि और अन्य अभावोंका भी उन उन इन्द्रियोंसे ग्रहण होता है । क्योंकि उनका प्रत्यक्ष आपड़ना (होना) असम्भव है । तात्पर्य यह है कि जिस गुणका जिस इन्द्रियसे ग्रहण होता है उसमें रहनेवाली जातिका भी उसीसे ग्रहण होनेके कारण जिनसे जिनका प्रत्यक्ष होता हो उसी इन्द्रियसे उसके अभावका भी ग्रहण कर लेना चाहिए । संसर्गाभावके

ताऽपेक्षिता। अतः स्तम्भादौ पिशाचादिभेदोऽपि चक्षुषा गृह्यत एव ॥

एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम्। तत्र लौकिकप्रत्यक्षे षोढा सन्निकर्षो वर्णितः। अलौकिकसन्निकर्षस्त्विदानीमुच्यते—

अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥ ६७ ॥

अलौकिकस्त्विति। व्यापारः सन्निकर्षः। सामान्यलक्षण इति सामान्यं लक्षणं यस्येत्यर्थः ॥ ६३ ॥

अत्र लक्षणपदेन यदि स्वरूपमुच्यते तदा सामान्यस्वरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते। तच्चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतं बोध्यम्। तथाहि यत्रेन्द्रियसंयुक्तो धूमादिस्तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र ज्ञाने धूमत्वं प्रकारः। तत्र धूमत्वेन सन्निकर्षेण धूमा

प्रत्यक्षप्रतिबन्धकत्वकल्पने बीजाभावात्। पिशाचादिभेदइति। पिशाचे स्तम्भभेदस्य च न प्रत्यक्षत्वं पिशाचरूपस्य भेदाधिकरणस्यायोग्यत्वादिति बोध्यम्।

अत्र लक्षणपदेनेति। ननु सामान्यं लक्षणं स्वरूपं यस्य स सामान्यलक्षणो व्यापार इति स्वीकारे सामान्यरूपा प्रत्यासत्तिरिति लभ्यते। सामान्यं चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतं बोध्यम्। तथा च यत्रेन्द्रियसंयुक्तो धूमस्तद्विशेष्यकं ज्ञानं धूम इति

प्रत्यक्षके लिए प्रतियोगीमें प्रत्यक्ष योग्यता अपेक्षित है। अन्योन्याभावके प्रत्यक्षमें अधिकरणकी योग्यता अपेक्षित है। इसीलिए स्तम्भ आदिमें पिशाचका भेद (यह पिशाच नहीं है किन्तु स्तम्भ है) भी चक्षुरूपो इन्द्रियसे गृहीत होता ही है ॥ ५९-६२ ॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष लौकिक और अलौकिक भेदसे दो प्रकारका होता है। उसमें लौकिक प्रत्यक्षमें छ प्रकारका सन्निकर्ष बताया जा चुका। अब अलौकिक सन्निकर्ष कह रहे हैं—

अलौकिक व्यापार (सन्निकर्ष) तीन प्रकारका माना गया है, सामान्यलक्षणा, ज्ञानलक्षणा और योगज।

'व्यापार'का अर्थ सन्निकर्ष है। 'सामान्यलक्षणा'का अर्थ है 'सामान्य है लक्षण विषय जिसका।

यदि यहाँ लक्षण शब्दका विषय नहीं किन्तु स्वरूप अर्थ किया जाय तब 'सामान्य है स्वरूप जिसका' यह अर्थ निकलता है। और सामान्यको 'इन्द्रियसम्बन्ध है विशेष्य जिसके ऐसे ज्ञानमें विशेषणरूप' समझना चाहिए। जैसे जहाँ इन्द्रियसे संयुक्तधूम आदि है वहाँ उसको विशेष्य बनानेवाला 'धूमः' इस प्रकारका ज्ञान हुआ। उस ज्ञानमें धूमत्व प्रकार (विशेषण) है। वहाँ 'धूमत्व' सन्निकर्षसे 'धूमाः' इस प्रकारका सकलधूम विषयक ज्ञान

इत्येवं रूपं सकलधूमविषयकं ज्ञानं जायते। अत्र यदीन्द्रियसम्बद्ध-मित्येवोच्यते तदा धूलीपटले धूमत्वभ्रमानन्तरं सकलधूमविषयकं ज्ञानं न स्यात् तत्र धूमत्वेन सह इन्द्रियसम्बन्धाभावात्। मन्मते तु इन्द्रियसम्बद्धं धूलीपटलं तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानम्, तत्र प्रकारीभूतं धूमत्वं प्रत्यासत्तिः। इन्द्रियसम्बन्धश्च लौकिको ग्राह्यः। इदं च बहिरिन्द्रियस्थले। मानसस्थले तु ज्ञानप्रकारीभूतं सामान्यमात्रं प्रत्यासत्तिः। (१)

परन्तु समानानां भावः सामान्यम्। तच्च क्वचिन्नित्यं धूमत्वादि,

---

तत्र ज्ञाने प्रकारीभूतं धूमत्वं तेन सन्निकर्षेण सकलधूमविषयकं ज्ञानं जायते इति। अत्र सामान्यपदेन समानानां भावः सामान्यमिति व्युत्पत्त्या धर्ममात्रं गृह्यते न तु जातिमात्रम्। एवं च यत्र तद्घटनाशानन्तरं तद्घटवतः स्मरणं जातं तत्र सामान्य-लक्षणसन्निकर्षेण सर्वेषां तद्घटवतां स्मरणं न स्यात् घटरूपसामान्यस्य तदानी-मभावादिति चेन्नः सामान्यं लक्षणं विषयो यस्य स सामान्यलक्षण इति स्वीकारेण सामान्यज्ञानस्वरूपप्रत्यासत्तेर्लाभेन घटरूपसामान्यस्याभावेपि तज्ज्ञानरूपप्रत्यासत्तेः सत्त्वेनादोषादिति सङ्क्षेपः।

उत्पन्न होता है। यहाँ पर यदि 'इन्द्रियसम्बद्ध है विशेष जिस ज्ञानमें उसमें विशेषणरूप' इतना सामान्यका अर्थ न मानकर केवल 'इन्द्रियसम्बद्ध जो सामान्य' इतना ही कहें तो धूलीपटलमें धूमभ्रम होनेके बाद सकल धूमविषयक ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि वहाँ धूमके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध नहीं है। हमारे मतमें तो 'इन्द्रियसे सम्बद्ध धूलीपटल उसमें विशेष्य 'धूम' इस प्रकारका ज्ञान और उसमें विशेषण धूमत्व सन्निकर्ष है' यहाँ इन्द्रियसम्बन्ध लौकिक सन्निकर्षसे लेना चाहिए। जहाँ प्रथम ज्ञान बहिरिन्द्रियसे जन्य हो और बादमें सामान्यलक्षणजन्य अलौकिक प्रत्यक्ष होता हो उस स्थलमें यह प्रत्यासत्ति समझना चाहिए। किन्तु जहाँ प्रथम ज्ञान मानस (अनुमान या शब्द) हुआ है उस स्थलमें तो ज्ञानमें प्रकार (विशेषण) हुआ सामान्य ही प्रत्यासत्ति है। (इस प्रकार शब्द आदिके द्वारा किसी पिशाच आदिकी उपस्थिति होनेपर समस्त पिशाचोंके विषयमें मानस-बोध बन जाता है।)

परन्तु समान पदार्थोंके भावको (साधारण धर्मको) सामान्य कहते हैं। जातिमात्रको नहीं। वह कहीं नित्य धूमत्व आदि जाति है। और कहीं अनित्य घट आदि भी सामान्यरूप

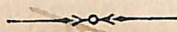
---

(१) अतः शब्दादिना यत्र किञ्चित् पिशाचाद्युपस्थितौ मानससकलपिशाचादिबोध उपपद्यते इति क्वचिदधिकः पाठः।

युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ।

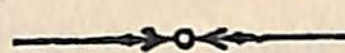
युक्तस्य तावद्योगजधर्मसहायेन मनसा आकाशपरमाण्वादिनिखिलपदार्थगोचरं ज्ञानं सर्वदैव भवितुमर्हति । द्वितीयस्य चिन्ताविशेषोऽपि सहकारीति ।

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां सिद्धान्तमुक्तावल्यां प्रत्यक्षखण्डम्



सन्निकर्ष इति बोध्यम्। ज्ञानलक्षणासन्निकर्षश्च स्वसंयुक्तमनः संयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयत्वरूपः। एवं चक्षुः तत्संयुक्तं मनः तत्संयुक्त आत्मा तत्समवेतं सौरभज्ञानं तद्विषयत्वं सौरभ इति तत्त्वम् ।

रामेश्वरतनूजन्मसूर्यनारायणोदिते । मुक्तावलिमयूखेऽस्मिन् प्रत्यक्षं पूर्णतामगात् ॥
इति न्यायव्याकरणाचार्यसूर्यनारायणशुक्लरचिते मुक्तावलीमयूखे
प्रत्यक्षखण्डं सम्पूर्णम् ।



युक्त योगीको सब पदार्थोंका सदा भान होता रहता है और युञ्जानको चिन्ताकी (ध्यानकी) सहायतासे सब पदार्थोंका साक्षात्कार होता है ।

जो योगी युक्त है उसे तो योगधर्मकी सहायतासे युक्त मनके द्वारा आकाशसे परमाणुपर्यन्त समस्त पदार्थोंका गोचर (ज्ञान) सदा ही होता रहता है । और दूसरे युञ्जानको तो समस्त पदार्थोंको जाननेके लिये चिन्ता विशेष भी सहायक होती है ॥ ६५ ॥

न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्लकी रची हुई 'मुक्तावलीप्रकाश'
नामकी भाषाटीका में प्रत्यक्षखण्ड समाप्त ।



प्रकाशकर्तुः परिचयः

जयन्ति ते ब्रह्ममुखात् प्रसूतास्तपोपवासाभिषवैश्च पूताः ।
तपोधना ब्रह्मविदः प्रभूता ये रामराज्ये सुखिनो वसन्ति ॥ १ ॥
सा पुण्यभूमिर्बहुपूजनीया सम्माननीया बहुमाननीया ।
यत्रावसन् वेदविदां वरिष्ठा गर्गान्ववायार्णवरत्नभूताः ॥ २ ॥
तत्राधिगोरक्षपुरं पवित्रग्रामेऽग्रजाह्लादिनि मामखोरे ।
बभूव शुक्लो हरिवंशनामा आस्था क्रियाभिर्वरबोधकोर्ध्या ॥ ३ ॥
... प्रविलङ्घ्य धीरस्समागतष्टेकनरायराज्ये ।
...वादिमुख्यैश्च ... ॥ ४ ॥
॥
६ ॥
॥ ७ ॥